ॐ श्री परमात्मने नमः

सप्तम अध्याय

श्रीमद्भगवद्गीता का उद्देश्य अर्जुन के माध्यम से हम सबकी बुद्धि को परिमार्जित करना है। हम सबके अन्दर एक-एक अर्जुन बैठा है जो जिज्ञासु है, साहसी भी है, भलाई भी चाहता है लेकिन न तो वह स्वयं अपने आप को तत्व रूप में जानता है न ही बाहरी संसार का सही-सही मूल्यांकन कर पाता है। इस कारण प्रतिक्षण संशय और किंकर्त्तव्यविमूढ़ता की स्थिति बनी रहती है। क्या करें क्या न करें का चक्कर हमें जो पीड़ा देता है वही 'अर्जुन रोग' है जिसका 'कृष्ण निदान' ही गीता है। रोग का मूल कारण तत्व का अज्ञान है जो मोह-भ्रम को जन्म देता है और हम गलत निर्णय ले बैठते हैं जिसके कारण हमें फिर दुःख भोगना पड़ता है। अतः भगवान बड़े ही सुनियोजित ढंग से मोह पर प्रहार करते हुए, बुद्धि को परिमार्जित करते हुए तत्व का ज्ञान कराते हैं।

छठे अध्याय की भूमिका में उल्लेख किया जा चुका है कि अनेक विद्वानों के मतानुसार भगवद्गीता वेद महाकाव्य 'तत् त्वमसि' की चरणबद्ध व्याख्या है। तत् त्वमसि का अर्थ है 'वह तुम हो।' 'वह' अर्थात् 'परमात्मा' और 'तुम' का अभिप्राय है 'जीव'। इस प्रकार गीता समझाती है कि जीवात्मा ही परमात्मा है। 'हे मानव! तुम क्षुद्र अल्पशक्ति, अल्पबुद्धि, सीमित स्थान, काल वाले हाड़-मांस के पुतले मात्र नहीं। यह तो केवल बाहरी स्वरूप है जो नित्य रहने वाला नहीं। तुम तो सर्वशक्तिमान हो, सर्वज्ञ हो, अपने यथार्थ स्वरूप को पहचानो। तभी तुम गौरवमय जीवन जी सकोगे। संसार की दुखों की कराह तभी बंद होगी जब तुम अपने अन्दर बहते चिर आनन्द के अजस्र स्रोत्र को पहचानोगे।' अब तक छः अध्याय में प्रमुखतः 'त्वम्' अर्थात् जीव का विवेचन था। जीव क्या है? वह कैसे कर्म करता है? कर्मों के नियम क्या है? जीव कर्मों के कारण कैसे बंधता है? इन कर्मबंधनों से वह कर्म करते हुए ही कैसे छूटता है? इन सब प्रश्नों के उत्तर देते हुए भगवान ने बताया कि कर्म बंधनों को काट कर

हमें ब्रह्म अर्थात् अपने यथार्थ परमात्म रूप का ध्यान करना चाहिए जिससे अंहकार का अन्तिम बंधन भी कट जाता है और हमें अपने स्वरूप का ज्ञान हो जाता है। उन्होंने बताया कि यह ऐसी अवस्था है जो सामान्य अनुभवों और अनुभूतियों से परे हैं। इस अवस्था में सारे संसार तथा समस्त चर-अचर प्राणियों का विलय एक ही स्वरूप में हो जाता है जो जीव का भी सत्य है और सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड का भी सत्य है।

अर्जुन की आंखों में कौतूहल जाग उठा। लेकिन उसे लगा- 'अपनी इस सीमित शक्ति और अल्पबुद्धि द्वारा मैं इस तत्व को कैसे जान पाऊंगा जो सम्पूर्ण है, अनन्त है, असीम है?

अर्जुन के भाव को पढ़ कर भगवान प्रसन्न हो जाते हैं। सातवें अध्याय की शुरुआत उन्होंने इसी आश्वासन से की है कि वे अर्जुन को सब कुछ बताएंगे, उसके सारे संशयों को दूर करेंगे।

यहीं से वेद महाकाव्य 'तत् त्वमसि' के प्रथम शब्द तत् का विवेचन आरम्भ हो गया। छठे अध्याय के अन्त में उन्होंने संकेत दिया था, 'अर्जुन तुम अपना मन मुझमें लगाओ।' अब सातवें अध्याय में बताएंगे कि 'वे' हैं कौन। अर्जुन ने तो उनको अपना सखा, अपना भाई, अपना शुभेच्छु ही जाना था, उनके परमात्म स्वरूप का तो उसे भान ही नहीं था। भगवान केवल अपने स्वरूप का निरूपण ही नहीं करेंगे वरन् उसे सम्पूर्णता से जान पाने की विधि भी बताएंगे।

श्री भगवानुवाच

मय्यासक्त मनाः पार्थ योगं युञ्जन्मदाश्रयः।
असंशयं समग्रं मां यथा ज्ञास्यसि तच्छृणु।।१।।

श्री भगवान ने कहा-हे पृथानन्दन! मुझमें आसक्त मन वाला, मेरे आश्रित होकर योग का अभ्यास करता हुआ तू मेरे समग्र रूप को निस्संदेह कैसे जानेगा, वह मैं तुझे बता रहा हूं। उसको सुन।

पिछले अध्याय के अंतिम श्लोक में ही भगवान ने भक्ति का

प्रसंग आरंभ कर दिया था। उन्होंने बताया था कि उनमें मन को तल्लीन करके श्रद्धा के साथ भजन अर्थात योग करने वाला सर्वश्रेष्ठ योगी है। यह भी स्पष्ट किया जा चुका है कि भजन का अर्थ कीर्तन नहीं है। सेवा सत्कर्म आदि भजन ही है। प्रभु की प्राप्ति के लिए या उनकी प्रसन्नता के लिए करने का भाव रखकर जो कुछ भी किया जाए भजन ही है। निष्काम कर्म भी भजन है जिसे कर्म योग कह देते हैं। सत्संग, अध्ययन, आत्मचिंतन, ध्यान आदि भी भजन है जिन्हें हम ज्ञान योग या ध्यान कह देते हैं। भक्ति की भाषा में भजन का अर्थ योग ही है- ऐसी क्रिया जो हमें परमात्मा के साथ जोड़े।

यहां भगवान इन्हीं का विस्तार बताते हुए कहते हैं मुझमें मन को आसक्त कर, मेरा आश्रय लेकर योग करो। अभी तक तो 'योग कर', 'योगी बन' ही कह रहे थे। अब बता रहे हैं कि उसके साथ क्या-क्या गुण और जुड़े तब योग सिद्ध होता है। भक्ति का पथ कर्म और ज्ञान से अलग नहीं है। पहले भी स्पष्ट किया जा चुका है कि परमात्म प्राप्ति के मार्ग में पहले कर्मपथ से गुजरना पड़ता है फिर ज्ञान पथ आता है और भक्ति तो कर्म और ज्ञान के साथ-साथ आरंभ से अन्त तक चलनी चाहिए।

बहुत से मूढ़ ज्ञानियों को यह भ्रम होता है कि कर्म योग उनके लिए है जिनमें शारीरिक बल बहुत ज्यादा है। ज्ञान योग उनके लिए है जिनमें बुद्धि ज्यादा है और भक्ति योग उनके लिए है जिनमें न शारीरिक क्षमता है न बौद्धिक। अतः भगवान ने कृपा करके बता दिया कि तुम बैठे-बैठे भजन ही करोगे तो तुम मुझे पा लोगे। हम तो बुद्धिमान हैं, ज्ञानी हैं, हम तो ज्ञान मार्ग से भगवान को पाने योग्य हैं। सबसे ऊंचा योग तो यही है सो हम तो बस अध्ययन करेंगे और मेडिटेशन करेंगे। वे जिन्दगी भर मेडिटेशन करते रह जाते हैं, उनकी लाइब्रेरी मोटी-मोटी पुस्तकों से भर जाती है लेकिन नतीजा कुछ नहीं निकलता।

तब वे किसी महात्मा के पास जाते हैं, 'इतने दिन मेडिटेशन करते हो गए पर कुछ नहीं हुआ' ऐसे लोग ध्यानपूर्वक इस श्लोक पर मनन करें तो उन्हें उत्तर मिल जाएगा। वे जान जाएंगे कि कर्म ज्ञान और भक्ति

योग को क्रमशः शरीर प्रधान, बुद्धि प्रधान और भावना प्रधान व्यक्तियों के लिए बताने की बात में क्या सच्चाई है। कोई भी व्यक्ति केवल शारीरिक शक्ति या केवल बौद्धिक शक्ति का स्वामी नहीं होता। कमोबेश शरीर मन बुद्धि तीनों ही हर मनुष्य में विकसित है अतः उस अनुपात में तीनों का ही अभ्यास आवश्यक है। कौन पहलवान या कौन सा ज्ञानी कह सकता है कि उसके उसके पास मन है ही नहीं? यदि मन है तो फिर शरीर से संसार में कार्य करते हुए या बुद्धि से विचार करते हुए मन को कहां रखें? भगवान ने बहुत सुन्दर उत्तर यहां दिया है।

भगवान कहते हैं-मन को मुझमें आसक्त करो। साधारण चिंतन या मन लगाना नहीं- आसक्त करना। हम अपने जीवन काल में बहुत से विषयों और व्यक्तियों के बारे में सोचते विचारते हैं, बहुत सी बातों में, खेल खिलौने में मन लगाते हैं लेकिन सबसे आसक्ति नहीं होती। बिना आसक्ति के मन लगना अस्थाई होता है उसकी तीव्रता भी अधिक नहीं होती। जैसे खिलाड़ी प्रवृत्ति का युवक टी.वी. पर फुटबाल मैच भी देखता है, टेनिस, क्रिकेट, और बिलियर्ड भी। उसे सब अच्छा लगता है लेकिन स्वयं उसकी रुचि क्रिकेट खेलने में है। वह क्रिकेट की दुनिया का बादशाह बनना चाहता है तो उठते-बैठते खाते-पीते क्रिकेट का ख्याल उसके मन में जितना अधिक और जिस तीव्रता तथा जिस सहजता के साथ आएगा उतना दूसरे खेलों का नहीं। उसके लिए क्रिकेट में मन लगाना मुश्किल नहीं होता, बल्कि उससे मन को हटाना ज्यादा मुश्किल होता है।

यही आसक्ति हमारी प्रभु में हो। अत्यधिक स्नेह के कारण मन उनसे चिपका रहे, उन्हीं का चिंतन करना चाहे तो फिर क्या बात है? हर क्षण योग है, हर कर्म भजन है। फिर 'मेडिटेशन' में मन को संसार के विषयों से हटाना और एकाग्र करना मुश्किल कहां रह जाएगा?

भक्ति के मार्ग में यही तो मजा है। इसके लिए कोई विशेष गुण या विशेष परिस्थितिजन्य सुविधा की आवश्यकता नहीं। संसार में सभी हमारा तन चाहते हैं या हमारी बुद्धि से लाभ उठाना चाहते हैं। मन की किसी के लिए कोई कीमत नहीं। मन को महत्व देने वाले को संसार से निराशा ही मिलती है। उसकी भावना की कद्र कोई नहीं करता। लेकिन

भगवान तो मन चाहते हैं- 'अपना मन मुझे दो, मैं उसी का प्यासा हूं।' अतः सीधा सा तरीका है- शरीर से संसार का कार्य करो, ब्रेन को संसार में लगाओ और मन को उनमें। मय्यासक्तमनाः का अर्थ यही है।

दूसरी बात भगवान कहते हैं मदाश्रयः। मेरा आश्रय लो। किसी न किसी का आश्रय लेना जीव का स्वभाव है क्योंकि स्वयं अपने आप में वह अपूर्णता महसूस करता है। संसार का, अर्थात् धन, सम्पत्ति, वैभव, विद्या, बुद्धि, योग्यता, कुटुम्ब, मित्र, माता-पिता या पुत्र आदि का जो आश्रय है वह नाशवान है, मिटने वाला है, सदा स्थिर रहने वाला नहीं। वह पूरी तृप्ति देने वाला भी नहीं। लेकिन भगवान का आश्रय कभी भी, किंचित मात्र भी मिटने वाला या कम होने वाला नहीं। वे जैसे हैं वैसे ही रहेंगे। सदा के लिए, सबके लिए, सब समय के लिए। सहारा पकड़ना हो तो उसी का पकड़ना चाहिए जो स्थिर हो। पहाड़ पर पैर फिसलने के कारण लुढ़कते हुए कोई लता हमारे हाथ में आ भी गई तो हमें क्या लाभ होगा? वह तो स्वयं ही झूल रही है। रुपया-पैसा हमें क्या सुरक्षा देगा? वह तो स्वयं सुरक्षा की मांग करता है। अतः आश्रय केवल भगवान का ही लेना चाहिए जो स्थिर है, परिपूर्ण है और सदैव सर्वत्र उपलब्ध है, उपयोगी है।

यहां दो बातें आईं। मुझमें ही आसक्ति हो, मेरा ही सहारा हो। मन आसक्त होता है प्रेम से और प्रेम होता है अपनेपन से। आश्रय लिया जाता है बड़े का, समर्थ का। कृष्ण कन्हैया तो हमारे लाला भी बनने को तैयार है, प्रेमी भी बनने को आतुर है और माता-पिता तथा गुरु भी। ब्रज की लीला देखिए, ब्रजवासियों का कन्हैया के साथ संबंध देखिए- उसी को नचाना, उसी को खिलाना, उसी के साथ खेलना, उसी को रस्सी से भी बांध देना। और गोवर्धन पूजा करने के लिए उसी की ही राय मांगना, उसी के मत के अनुसार चलना तथा संकट की घड़ी में भी उसी छः वर्षीय बालक को आर्त होकर पुकारना- 'कन्हैया! इन्द्र के प्रकोप से हमें बचाओ, मूसलाधार वर्षा में हमारे घर, हमारी गाएं बही जा रही है, हमें शरण दो।' हद है न बेशर्मी की भी? हम भी ऐसे बेशर्म बनें। सारी शर्मो-हया, सारे मुखौटे जो हम संसार में ओढ़े रहते हैं, उन्हें उतार कर प्रभु के सामने जाकर देखिए तो सही। सारे संसार को अपनी माया के द्वारा नचाने वाला छछिया भर छाछ पर नाच भी लेता है और आवश्यकता

पड़ने पर कन्नी उंगली पर गोवर्धन धारण कर, आश्रय भी दे देता है। ऐसे प्रेमी, ऐसे समर्थ प्रभु को छोड़ कर हम आसक्ति रखें भोगों में, आश्रय लें रुपये, पैसे, कुटुम्ब का, तो कर्म योग, ध्यान योग का अभ्यास कर उसे समग्र रूप से समझ पाएंगे?

और यदि आसक्ति उसी में, आश्रय उसी का, कर्म उसी के निमित्त, चिन्तन उसी का, ध्यान उसी का तो फिर उसे समग्र रूप से जान पाने में शंका है कहीं?

लेकिन इतना सा कह देने मात्र से तो कार्य सध नहीं जाएगा। इसलिए भगवान कहते हैं, आगे सुन–

ज्ञानं तेऽहं सविज्ञानमिदं वक्ष्याम्यशेतः।
यज्ज्ञात्वा नेह भूयोऽन्यज्ज्ञातव्यमवशिष्यते।।२।।

तेरे लिए मैं विज्ञान सहित ज्ञान को पूर्णता के साथ कहूंगा जिसे जानने के बाद कुछ भी जानना शेष नहीं बचेगा।

भगवान का वादा है कि वे ज्ञान और विज्ञान सहित पूरी बात बताएंगे। ज्ञान क्या है यह तो हम सब जानते हैं। संस्कृत के विज्ञान शब्द का अर्थ अंग्रेजी का 'साइंस' नहीं है जिसका हिन्दी अनुवाद विज्ञान कर लिया गया है। विज्ञान का अर्थ है विशेष ज्ञान– जो ज्ञान के अनुरूप व्यवहार करने से प्राप्त होता है। जैसे भांग के नशे के बारे में सबको पता है कि उसमें आदमी को लगने लगता है कि वह उड़ रहा है, उसे हंसी आ जाती है तो आती ही जाती है, इत्यादि। यह तो हुआ ज्ञान। लेकिन जिसने भांग खाकर इस ज्ञान का स्वयं अनुभव किया है वह विज्ञान है। विज्ञान के बिना कोरा ज्ञान बेकार है, विशेषकर आध्यात्म के क्षेत्र में। साइंस के एक्सपेरिमेंट बाह्य जगत की वस्तुओं के साथ होते हैं लेकिन अध्यात्म का विषय तो मानव स्वयं है। अपने आप को वह किताब में पढ़ कर नहीं जान सकेगा। उसे स्वयं उन बातों को जीवन में उतारना ही पड़ेगा, उनकी अनुभूति करनी होगी जिसकी विशेष प्रक्रिया है। भगवान

वादा कर रहे हैं कि वे केवल तत्व ज्ञान का कोरा उपदेश नहीं देंगे, उसकी व्यवहारिक प्रक्रिया भी बताएंगे जिससे हम उसे अपने निजी जीवन में उतार सकें, हमें क्या करना है, कैसे करना है यह समझ सकें। वे कह रहे हैं कि अशेषत: बताएंगे, कुछ भी बाकी नहीं रखेंगे। लोग अपने व्यवसाय के बारे में, अपनी कम्पनी के उत्पादों के बारे में किसी को 'सब कुछ' बताने पर भी बहुत सी बातें बताते नहीं जिसे 'ट्रेड सीक्रेट' कहते हैं। भगवान कोई सीक्रेट अपने पास नहीं रखते क्योंकि वे तो हमसे ज्यादा आतुर हैं कि हम उनकी बातें सुनें और उन्हें जीवन में उतार कर उनके पास पहुंचे। युगों-युगों से प्रतीक्षा कर रहे हैं वे अपने बच्चों की कि वे विदेश में पढ़ाई पूरी कर घर वापस लौट जाएं। पर हम तो पढ़ाई पूरी करने के बदले चकाचौंध के चक्कर मे पड़े हुए हैं। ज्ञान पाने के लिए क्लास रूम में ही नहीं जाते तो पूरी होगी कैसे? हम घर लौटेंगे कैसे? सांसारिक वस्तुओं का ज्ञान तो सीमित है। भूगोल जानने वाले रसायनों के विषय में नहीं जानते लेकिन आध्यात्मविद्या तो वह है जिसके ज्ञान-विज्ञान के बाद सभी वस्तुओं और प्राणियों को एक ही स्वरूप में विलीन होता हुआ पाएंगे। उस तत्व को जान लेने के बाद कुछ भी जानना शेष कहां रहा? यह बात अभी हमारी बुद्धि समझ ही नहीं आ रही है। हमें लग रहा है कि भगवान ने तो सार्वजनिक रूप से सारे 'सीक्रेट आऊट' कर गीता कह ही डाली है, इसे तो बहुतों ने पढा है, रोज पढ़ते हैं, गीता के विषय को लेकर पी एच डी भी कर चुके हैं, बड़ी-बड़ी किताबें लिख चुके हैं, किसी को भी को देखकर ऐसा नहीं लगता कि वह परिपूर्ण है और उसे संसार के किसी ज्ञान के प्रति जिज्ञासा नहीं, किसी वस्तु की चाह नहीं। यह विरोधाभास क्यों? भगवान बताते हैं-

मनुष्याणां सहस्रेषु कश्चिद्यतति सिद्धये।
यततामपि सिद्धानां कश्चिन्मां वेत्ति तत्त्वत:।।३।।

हजारों मनुष्यों में से कोई एक वास्तविक सिद्धि के लिए यत्न करता है और उन यत्न करने वाले सिद्धों में कोई एक ही मुझे तत्व से जानता है।

पहली बात तो यह है कि मनुष्य जन्म लेकर भी अपने और अपने परिवार के पेट पालने, भोग-विलास की सामग्री जुटाने से अलग हम कुछ भी करना ही नहीं चाहते। गीता पर शोध किया भी तो इसलिए कि पी एच डी के बाद लेक्चरर से प्रोफेसर बन जाएंगे, नौकरी में तरक्की हो जाएगी गीता की शिक्षाओं को इस दृष्टिकोण के साथ अध्ययन कर जान लेने से तत्व का ज्ञान कैसे हो सकता है, उसके लिए तो विज्ञान जरूरी है। जिस प्रकार भगवान ज्ञान के साथ विज्ञान की जानकारी देने का संकल्प कर रहे हैं उसी प्रकार गीता के शिक्षार्थी को इन्हें साधना के द्वारा जीवन में उतारने का संकल्प करना चाहिए क्योंकि यह उच्चतम ज्ञान है।

इस प्रकार हजारों में एक ने तो साधना के पथ पर कदम बढ़ाया, फिर उनमें भी कोई विरला ही भगवान को 'तत्व' से जान पाता है। हममें से जो अपने आप को श्रद्धालु, साधक और धर्मात्मा समझते हैं उनकी भी वास्तविक स्थिति क्या है? सब अपने आप को भक्त समझते हैं लेकिन अपने-अपने इष्टदेव का ही। जो वैष्णव है वह शैव को भिन्न समझता है, राम के पुजारी कृष्ण के नाम से 'राम-राम' करते हैं, ईसा, मुहम्मद, अल्लाह तो बहुत दूर की बात है। हम विष्णु और शिव को ही एक नहीं समझ पाते तो जीव और परमात्मा या कुत्ते, बिल्ली, घोड़े और मानव को एक कैसे समझ पाएंगे? झंडा लेकर 'भारत माता की जय' के नारे लगाने वाले हजारों मिल जाएंगे लेकिन उनमें से कितने लोग है जो सोचते हैं कि झंडा तो प्रतीक मात्र है। इसकी जय जयकार करते हुए ऐसे कर्म करना जिससे भारत माता का गौरव क्षीण हो, यह पाखण्ड ही तो है। भगवान चाहते हैं कि सब उन्हें तत्व से जानें। उन्हें गाएं चराने वाला नन्दलाल या अर्जुन का रथ हांकने वाला पार्थ सारथि मात्र न समझें बल्कि उनके तात्विक स्वरूप को पहचानने की कोशिश करें जो हर प्राणी की धड़कनों में स्पंदित होता है। लेकिन ये बातें किसी को हतोत्साहित करने के लिए नहीं। 'हजारों में एक कोशिश करे और उनमें भी किसी एक को ही तत्व ज्ञान हो' तो यह बड़ा टफ कम्पीटीशन है भई, हमारी औकात कहां? यह सोचकर हम हाथ पर हाथ न धर लें। हम कितने आगे तक पहुंच चुके हैं यह देखें। पहली बात तो यही है कि चौरासी लाख योनियों में

हमने मनुष्य का जन्म पाया।' दूसरी योनियों में तो बिल्कुल ही 'स्कोप' नहीं होता। यानी 'लक फेवर' कर रहा है कितना। क्यों न मौके का फायदा उठाएं।

अब मनुष्यों में भी हम यदि शिक्षित, समझदार और विचारवान हैं तो यह भी हमें इस कम्पीटीशन में भाग लेने के लिए योग्य बनाता है। यदि हमने साधना द्वारा आत्मा को जानने का दृढ़ संकल्प कर लिया तो समझिए हम 'क्वार्टरफाइनल' में पहुंच चुके हैं। भगवान तो अभी-अभी कुछ देर पहले कह चुके हैं- 'जिज्ञासुरपि कौन्तेय शब्द ब्रह्मातिवर्तते' यानी योग का जिज्ञासु भी वेद के ज्ञानियों से उच्च है। और इसके बाद यदि इस पथ पर कदम बढ़ा लिया तो भगवान कह ही रहे थे 'कौन्तैय तुम अच्छी तरह जान लो मेरे भक्तों का नाश नहीं होता।' यानी सेमी फाइनल में तो हम पहुंच ही चुके हैं। अम्पायर भी हमारा पक्षपाती है। अब पीछे हटना कैसा? करोड़ों में तो हम हैं ही। अब तो बस लगे रहना है। लक्ष्य प्राप्ति अवश्य होगी।

इस प्रकार शिष्य को तैयार करने के बाद भगवान अपने तात्विक स्वरूप का वर्णन आरम्भ करते हैं-

भूमिरापोऽनलो वायु खं मनो बुद्धिरेव च ।
अहंकार इतीयं मे भिन्ना प्रकृतिरष्टधा ।।४।।

पृथ्वी, जल, अनल (अग्नि), वायु, आकाश, (ये पंचमहाभूत) तथा मन, बुद्धि और अहंकार यह आठ प्रकार के भेदों वाली मेरी प्रकृति है।

इस श्लोक में भगवान विषय, भावना और विचार के सम्पूर्ण जगत को गिनाते हुए बता रहे हैं कि इन विभिन्न नाम रूप को तुम मेरी ही प्रकृति समझो। मैं ही इन भिन्न-भिन्न रूपों में तुम्हारे सम्मुख हूं।

हमारा शरीर इन पंचमहाभूतों से बना है-पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और आकाश। आजकल की वैज्ञानिक भाषा में कैल्शियम, कार्बन, फास्फोरस आदि तत्व कहते हैं, लेकिन उनकी लिस्ट तो बहुत लम्बी होगी।

हमारे शास्त्रों में जो पांच तत्व गिनाए गए हैं उनमें सब रसायनिक तत्व भी आ जाते हैं और ये कभी नष्ट नहीं होते। ये अजन्मा और अनाशवान हैं। आइये देखें मृत्यु पर भी ये तत्व मरते कैसे नहीं।

मृत्यु के समय प्राणवायु निकल जाती है यानी जीव का वायु तत्व समष्टि वायु में विलीन हो गया। शरीर ठंडा हो जाता है यानी अग्नि तत्व भी बाहर निकल कर वातावरण में मिल गया। जब मृत शरीर का दाह संस्कार किया जाता है तो जल भी वाष्प बनकर बाहरी वातावरण में मिल जाता है। जलने के बाद जो भस्म बचती है वह पृथ्वी तत्व है जो वापस पृथ्वी में मिल जाता है और फिर पेड़ पौधों द्वारा ग्रहण किया जाता है। सब कुछ होने पर जो आकाश उस प्राणी ने घेर रखा था वह स्थान भी खाली हो जाता है और आकाश में विलीन हो जाता है। ये सभी तत्व फिर नये प्राणी का निर्माण करते हैं। वातावरण की नरमी और वायु तथा पृथ्वी से रसायन ग्रहण कर नये पौधों या प्राणियों की रचना होती है जो फिर और आकाश घेरते हैं। इस प्रकार भगवान बताते हैं कि शरीर में तत्व रूप से सर्वव्यापी अविकारी, अजन्मा, अनाशवान परमात्मस्वरूप वे ही हैं।

हमारे मन, बुद्धि का विकास भी हमारे द्वारा ग्रहण किए गए भोजन आदि तत्वों से ही होता है और मैं, मैं हूं का विचार भी तभी आ पाता है जिसे अहंकार कहते हैं। इस प्रकार पंचमहाभूतों के साथ भगवान ने अपनी प्रकृति के तत्व गिनाते वक्त मन, बुद्धि, अहंकार को भी शामिल करके कहा है कि यह सब आठ भेदों वाली मेरी प्रकृति है।

जैसे स्वर्ण से चूड़ी, हार, अंगूठी और बाली बनाई जाए तो वह कहेगा कि ये चारों मेरे ही भिन्न-भिन्न रूप हैं। मैं ही तत्व रूप से इनमें उपस्थित हूं। इनका रूप समाप्त भी हो जाए (यानि हम इन्हें गला कर रूप बदल डालें) तब भी मैं नहीं बदला। इस प्रकार तत्व हुआ स्वर्ण और भेद हुए चूड़ी, हार, अंगूठी, बाली। चूड़ी, हार आदि नष्ट हो सकते हैं पर उनके नष्ट होने से स्वर्ण नष्ट नहीं होता।

लेकिन अभी भगवान का यह तत्व विवेचन समाप्त नहीं हुआ है। वे कहते हैं-

अपरेयमितस्त्वन्यां प्रकृतिं विद्धि मे पराम् ।
जीवभूतां महाबाहो ययेदं धार्यते जगत् ।।५।।

यह (सब) मेरी अपरा प्रकृति है लेकिन हे महाबाहो, इस अपरा प्रकृति से भिन्न मेरी जीव रूपा परा प्रकृति को जान जिसके द्वारा यह जगत धारण किया जाता है।

भगवान ने अभी तक जो कुछ गिनाए वह तो हमारे शरीर के तत्व हैं। किन्तु जीव तो शरीर मात्र नहीं। यदि शरीर में जीवन नहीं, चेतना नहीं तो उसे शव कहेंगे प्राणी नहीं। भगवान कहते है कि जीव के स्थूल (बाहरी देह) और सूक्ष्म (मन बुद्धि अहंकार) शरीर का निर्माण तो मुझसे हुआ ही है, उन्हें चैतन्य करने वाला भी मैं ही हूं। यदि चेतना न हो तो ब्रेन होते हुए भी व्यक्ति सोच नहीं सका यानि उसकी क्रियाओं और विचारों का वास्तविक कारण चेतना है। इसीलिए भगवान कहते हैं कि यह मेरी परा यानी ऊंची प्रकृति है। इसी परा प्रकृति ने शरीर को धारण कर रखा है।

जैसे सागर कहे कि ये लहरें, ये तरंगें, यह झाग, सब मैं ही हूं, लेकिन यह सब तो मेरी अपरा प्रकृति है, वास्तव में इनसे भिन्न अथाह जलराशि मेरी परा प्रकृति है जो इन लहरों तरंगों को धारण करती है। भक्ति की भाषा में इन दोनों श्लोकों का अर्थ यह निकलता है कि सब कुछ भगवान का है। हमारा कुछ नहीं। जो वस्तु दूसरे की है उसके प्रति हमारे मन में भोग की लालसा नहीं होनी चाहिए। हमें जो कुछ बाहरी जगत की वस्तुएं मिली हैं वे भी भगवान की हैं, जो शरीर मिला है वह भी भगवान का है और जो सोचने विचारने की क्षमता है वह भी उन्हीं की ही है। इन्हें हम अपना न मानें। इनका उपयोग उन्हीं प्रभु की सेवा के लिए करें जिसने हमें यह सब दिया है। भगवान आगे कहते हैं-

एतद्योनीनि भूतानि सर्वाणीत्युपधारय।
अहं कृत्स्नस्य जगतः प्रभवः प्रलयस्तथा।।६।।

इन (दोनों प्रकृतियों के संयोग) से ही समस्त प्राणी उत्पन्न होते हैं ऐसा तुम समझो। मैं सम्पूर्ण जगत का प्रभाव तथा प्रलय हूं।

पिछले श्लोक में तो भगवान ने यही बताया था और इस श्लोक की पहली पंक्ति में भी वे यही कह रहे हैं कि परा और अपरा प्रकृति के रूप में सम्पूर्ण जगत में पदार्थ और चेतना के रूप में वे ही हैं अर्थात् उन्होंने ही सारे जगत को इस प्रकार धारण कर रखा है जैसे स्वर्ण आभूषणों को धारण करता है या मिट्टी मटके को धारण करती है। इसे उपादान कारण कहते हैं। स्वर्ण और मिट्टी आभूषणों और मटकों के उपादान कारण हैं।

लेकिन भगवान मात्र उपादान कारण ही नहीं। स्वर्ण से आभूषण तब तक नहीं बन सकते जब तक स्वर्णकार न हो। मिट्टी से घड़ा तब तक नहीं बन सकता जब तक कुम्हार न हो। स्वर्णकार और कुम्हार निमित्त कारण है। भगवान का कहना है कि इस सम्पूर्ण जगत का उपादान कारण ही नहीं निमित्त कारण भी मैं ही हूं। बोलचाल की साधाारण भाषा में कहें तो भगवान का कहना यह है कि संसार को बनाने वाला भी मैं ही हूं और इसका मसाला भी मैं ही हूं। प्रभव शब्द से भगवान का तात्पर्य स्रष्टा ही है।

इतना ही नहीं, इनका प्रलय कर्ता भी मैं ही हूं अर्थात् नाम रूप नष्ट हाने के बाद सब लीन भी मुझी में हो जाता है। जैसे चूड़ी, हार गलकर वापस स्वर्ण में लीन हो जाते हैं। हमारा शरीर भी किस प्रकार पंचमहाभूतों से बने समष्टि जगत में लीन हो जाता है यह हम पहले के श्लोक में समझ चुके हैं। ईश्वर से ही प्रकृति की और प्रकृति से ही जीव की उत्पत्ति हुई। ईश्वर रूपा प्रकृति को समष्टि कहते हैं और इसी के एक अंश जीव को व्यष्टि कहते हैं।

जीव और ईश्वर तत्व रूप से एक ही हैं। अन्तर यही है कि जीव प्रकृति के अधीन है और प्रकृति ईश्वर के अधीन है। ईश्वर प्रकृति का दास नहीं स्वामी है। लेकिन इससे यह बिलकुल स्पष्ट हो जाता है कि वह हमसे दूर बिल्कुल नहीं है। भगवान को हम अपने से उतना

ही दूर कह सकते हैं जितना आभूषण से स्वर्ण। वास्तव में जीव शिव स्वरूप ही है लेकिन अज्ञान के कारण वह अपना तादात्म्य केवल भगवान की अपरा प्रकृति के साथ कर अपने को क्षुद्र संकुचित और संकीर्ण कर बैठता है। इस श्लोक में भगवान का आह्वान यही है- 'बहुत सो चुके, अब जागो, समझो कि तुम मुझसे भिन्न नहीं हो, अपने को संकुचित न करो प्रकृति के दास नहीं स्वामी बनो। दासत्व ही दुख है, स्वामित्व ही आनन्द।'

जीव और जगत के साथ अपने संबंध को और स्पष्ट करते हुए भगवान कहते हैं-

मत्तः परतरं नान्यत्किंचिदस्ति धनन्जय ।
मयि सर्वमिदं प्रोतं सूत्रे मणिगणा इव ।।७।।

हे धनन्जय- मुझसे परे इस जगत में कुछ है ही नहीं। सब कुछ मुझमें इस प्रकार पिरोया हुआ है जैसे सूत्र में मणियां।

समस्त प्रकृति का जड़ तत्व भी परमात्मा ही है और चेतन तत्व भी परमात्मा ही। यदि उनकी उत्पत्ति स्थिति और लय का जिम्मेदार भी परमात्मा ही है तो फिर बाकी बचा ही क्या जिसे हम परमात्मा से भिन्न कह सकें। भगवान यहां अपने स्वरूप के विषय में एक बात और बता रहे हैं कि विभिन्न नाम और रूपों वाले जगत को एक में बांधे रखने, उनमें समन्वय स्थापित करने वाले भी वही हैं।

स्वर्ण के सूत्र में स्वर्ण के ही मनके पिरोए जाएं। तत्व एक ही है। मनकों को एकत्र करने के लिए स्वर्ण ने ही सूत्र का रूप ले लिया। मनके विभिन्न प्रकार के हो सकते हैं लेकिन वही तत्व सबमें विद्यमान है। सूत्र दिखाई नहीं देता लेकिन वह हर मनके के अन्दर हैं जब हम सुन्दर माला को देखते हैं तो हमें अहसास अवश्य होता है कि जरूर कुछ है जिसने इस विभिन्न मनकों को इतनी सुन्दरता से धारण कर रखा है जिससे हर मनका अपनी-अपनी जगह स्थिर और अनुशासित है।

भगवान भी हम सबके हृदय में हैं। केवल सजीव पदार्थों में नहीं हैं, जड़ पदार्थों में भी वे विद्यमान हैं। जड़ में वह केवल सत् स्वरूप में हैं और चेतन में वह सत् और चित् स्वरूप में हैं। उनका एक और स्वरूप है- आनन्द स्वरूप जिसे हम अज्ञानता के कारण नहीं जान पाते। इन तीनों स्वरूपों से ही सच्चिदानन्द (सत्+चित्+आनन्द) शब्द बना है जो परमात्मा के सभी तत्वों को शब्द रूप से अभिव्यक्त करता है। सच्चित तो हम हैं ही पर यदि हमने परमात्म तत्व को ज्ञान विज्ञान सहित जान लिया तो हम सच्चिदानन्द हो जाएंगे। इसे ही आत्मा का परमात्मा में विलय कह सकते हैं।

वास्तव में जीव, जगत और ईश्वर के सम्बंध को अपने वर्तमान मानसिक और बौद्धिक स्तर से समझा ही नहीं जा सकता। हम इसे तरह-तरह से कहने सुनने और समझने की कोशिश करते रहें, तत्व ज्ञान तभी होगा जब हम अपनी वर्तमान स्थिति से ऊपर उठकर चेतना के उस धरातल पर पहुंचेंगे जो हमारी चिर पिरचित जाग्रत स्वप्न और सुषुप्ति की तीनों अवस्थाओं से भिन्न है। इसे तुरीयावस्था कहते हैं। शब्दों द्वारा समझने की कोशिश करेंगे कि यह संसार भगवान ने अपने ही मसाले से बनाया है और इसके स्रष्टा ही नहीं, नियामक भी वही हैं तो बात मान लें भले ही लेकिन लगता अजीब ही है।

जैसे एक देहाती व्यक्ति बंबई शहर की गगनचुम्बी इमारत की छत पर चढ़ कर कहे- अरे, लोग तो कीड़े मकोड़ों जैसे लग रहे हैं। रेल गाड़ी तो ऐसे लग रही है जैसे आठ दस चीटियां एक के पीछे एक चल रही हों। अब नीचे खड़े उसके साथी ने यह बात सुनी तो कहने लगा, 'अच्छा! ऊपर जाने पर दो पैर का आदमी छः पैर का कीड़े जैसा बन जाता है! रेलगाड़ी चींटी बन जाती है!' तब ऊपर वाला यही कहेगा न- तुम नहीं समझोगे ऐसे। ऊपर आकर देखो तभी ठीक-ठीक समझ पाओगे। गीता या शास्त्र पढ़कर परमात्म को समझने का प्रयास कुछ ऐसा ही है। हम कभी भी ठीक-ठीक नहीं समझ पाएंगे जब तक हम अपने संकुचित संकीर्ण जीव भाव से ऊपर उठने के लिए साधना करने को प्रस्तुत नहीं होंगे।

लेकिन किसी वस्तु को पाने के लिए हम मेहनत करने तभी प्रस्तुत होंगे जब उसकी सत्ता का कुछ न कुछ आभास जरूर हो। यदि यही निश्चित न हो कि कुछ है भी कि नहीं तो हम कैसे प्रेरित होंगे? भगवान अगले चार श्लोकों में बताते हैं कि हम किन-किन को देखकर परमात्मा की सत्ता का आभास पा सकते हैं-

रसोऽहमप्सु कौन्तेय प्रभास्मि शशिसूर्ययोः ।
प्रणवः सर्ववेदेषु शब्दः खे पौरुषं नृषु ।।८।।

हे कौन्तेय जलों में रस मैं हूं, चन्द्रमा और सूर्य में प्रभा (प्रकाश) मैं हूं, वेदों में प्रणव (ओंकार) मैं हूं, आकाश में शब्द और मनुष्य में पुरुषार्थ मैं हूं।

यूं तो परमात्मा सृष्टि के जड़ चेतन सभी प्राणियों के कण-कण में सत्ता रूप से विराजमान हैं ही लेकिन उसका अनुभव हम कर सकें इसके लिए विशेष दृष्टि चाहिए। भगवान सामान्य स्तर से हमें ऊपर उठाने का प्रयत्न कर रहे हैं। हम साधारण लोग ईंट-पत्थर में तो भगवान को नहीं देख पाते लेकिन कोई सुन्दर दृश्य देखते हैं तो मन में आता है-'क्या लीला है भगवान की, कितनी सुन्दर प्रकृति बनाई है।' यही दृष्टि धीरे-धीरे विकसित हो जाए तो संसार की प्रत्येक क्रिया में उसकी लीला, प्रत्येक प्राणी में उसकी अभिव्यक्ति दिखाई देने लगेगी। यहां भगवान कुछ जड़ वस्तुओं की सूची बता रहे हैं जिनमें परमात्मा की अभिव्यक्ति देख पाना कुछ सहज है। वे कह रहे हैं- 'हे मानव, तुम इन्हें देखो तो याद कर लो कि इन सब का कारण और सार तत्व मैं ही हूं।

भगवान कहते हैं, 'जल में रस मैं हूं।' जल से रस निकाल दिया जाए तो जल, जल ही नहीं रह जाएगा। इसी प्रकार सूर्य चन्द्र का तत्व है- प्रकाश। यदि प्रकाश बंद हो जाए तो हम सूर्य को सूर्य और चन्द्रमा को चन्द्रमा मानेंगे ही नहीं। इसी प्रकार वेदों में से प्रणव निकाल दिया जाए तो वेद, वेद नहीं कहलाएंगे। इसी प्रकार आकाश का तत्व शब्द माना जाता जो हर पल आकाश में प्रतिध्वनित होता रहता है। इसी प्रकार

मनुष्य में जो सार चीज है वह है पुरुषार्थ और भगवान कहते हैं कि यह पुरुषार्थ भी मैं ही हूं।

तात्पर्य यह है कि हर वस्तु का सार परमात्मा है। हम जब सूर्य का प्रकाश देखें, चन्द्रमा की ज्योत्स्ना देखें, किसी व्यक्ति का प्रबल पुरुषार्थ देखें, तब कम से कम याद कर लें कि इन सबमें परमात्मा ही है।

सब कुछ भगवान ही है यह समझने की शुरुआत भगवान ने बताई है। जैसे आज हम सब सोचते हैं- 'दुनिया में सब पैसे का खेल है भई, पैसे बिना कहीं कुछ नहीं है।' यह बात हमारी दृष्टि और अनुभव में जितनी गहरी जमती है, उतनी ही पैसा प्राप्त करने के लिए हमारी व्याकुलता बढ़ती है। पहले तो हम यह देखते हैं कि पेट भरने, तन ढकने के लिए पैसे की आवश्यकता होती है, फिर धीरे-धीरे नजर आने लगता है कि कोई हमारा सम्मान करे, नजर उठा के भी देखे तो इसके लिए भी हमारे पास पैसा होना जरूरी है, तब हम पैसा प्राप्त करने के पीछे हाथ धो कर पड़ जाते हैं। उसी प्रकार यदि हमें यह नजर आने लगे- 'भगवान बिना कहीं कुछ नहीं है भाई, उनके बिना तो हम पैसा कमाने के लिए हाथ हिलाने जितना भी काम नहीं कर सकते,' तो स्वाभाविक ही उन्हें पाने के लिए हमारी व्याकुलता बढ़ेगी और हम भगवान द्वारा इस अध्याय में बताए गए ज्ञान-विज्ञान के द्वारा उन्हें पाने के लिए साधना करेंगे।

इसी बात को ही अगले श्लोक में उन्होंने आगे बढ़ाया है-

पुण्यो गन्धः पृथिव्यां च तेजश्चास्मि विभावसौ ।
जीवनं सर्वभूतेषु तपश्चास्मि तपस्विषु ।।९।।

पृथ्वी में पवित्र गंध मैं हूं, अग्नि में तेज मैं हूं, सम्पूर्ण प्राणियों में जीवनी शक्ति मैं हूं और तपस्वियों में तपस्या मैं हूं।

पृथ्वी का सार है गंध। यहां पृथ्वी की पवित्र गंध कहने से तात्पर्य यह है कि पवित्र गंध तो पृथ्वी में प्राकृतिक रूप से होती है लेकिन दुर्गन्ध किसी विकृति के कारण उत्पन्न होती है। अग्नि का तत्व तेज ही

है। तेज के बिना अग्नि कुछ नहीं है। इसी प्रकार सम्पूर्ण प्रणियों में जीवनी शक्ति है जिसके कारण जड़ तत्वों से बनी देह जीवित है और कार्य करती है। जीवन के बिना जीव जीव नहीं कहलाता। इसी प्रकार तप के बिना कोई तपस्वी नहीं कहलाता। तप का अर्थ केवल धूनी रमाना या एक टांग पर खड़े होकर जप करना नहीं। किसी भी कार्य की सिद्धि के लिए कष्ट सहकर हम सतत् प्रयत्न करते हैं तो वह तप है। सैनिक अपनी मातृभूमि के लिए युद्ध क्षेत्र में कष्ट उठाता है, विद्यार्थी परीक्षा में पास होने के लिए खेलकूद छोड़ कर रात दिन पढ़ता है तो वह उसका तप ही है। एक चोर भी चोरी करने के लिए रात भर जागकर मेहनत करता है, वह उसका तप है। इस प्रकार लक्ष्य बिलकुल निम्न कोटि का भी हो सकता है, साधारण भी और अति महान भी। लेकिन कार्य करने की जो शक्ति है वह परमात्मा का ही रूप है। इस प्रकार विचार करेंगे तो प्रकृति और पुरुष, दोनों के आधारभूत तत्व परमात्मा को ही पाएंगे।

भगवान कुछ और उदाहरण देते हुए कहते हैं–

बीजं मां सर्वभूतानां विद्धि पार्थ सनातनम् ।
बुद्धिर्बुद्धिमतामस्मि तेजस्तेजस्विनामहम् ।।१०।।

हे पृथानन्दन, सम्पूर्ण प्राणियों का सनातन बीज मुझे जानो। बुद्धिमानों में बुद्धि और तेजस्वियों में तेज मैं हूं।

सम्पूर्ण प्राणियों का बीज तत्व चेतना ही है जो कि प्राणियों में परमात्मा की अभिव्यक्ति है। कोई सुन्दर दिखलाई देता है कोई कुरूप, कोई दो पैर वाला है और कोई चार पैर वाला, लेकिन जीवन तो जैसा मनुष्य में है वैसा ही पशु या कीड़े मकोड़े में। यह जीवन आज जैसा था वैसा ही पहले था। सृष्टि के आरम्भ में भी जीवन तो जीवन ही था और सृष्टि का उद्भव जीवन से ही हुआ है अतः भगवान कहते हैं कि मैं सनातन बीज हूं।

इतना कहकर भी भगवान को सन्तोष नहीं होता। वास्तव में जिस बात को शब्दों में व्यक्त करना बहुत कठिन है, जिसे एक शब्द में व्यक्त

किया नहीं जा सकता उसके लिए उसके लिए हम बार-बार नये-नये शब्द सोचते हैं। भगवान को भी बताना है कि किस प्रकार वे सबके कारण तत्व भी हैं और सार तत्व भी। इसलिए वे दो और उदाहरण देते हैं- बुद्धिमानों की बुद्धि और तेजस्वियों का तेज मैं ही हूं।

चेतना शक्ति के बिना कोई कितना बुद्धिमान हो, कुछ नहीं कर सकता। बड़ा से बड़ा गणितज्ञ यदि जीवन खो बैठे तो दो और दो भी नहीं जोड़ पाएगा अतः बुद्धिमानों की बुद्धि का कारण भी वही आत्मा है जो चेतना के रूप में सभी प्राणियों में विद्यमान है। इसी प्रकार कोई भी कितना भी तेजस्वी क्यों न हो, सुन्दर क्यों न हो, प्रभावशाली क्यों न हो, रोबीला क्यों न हो, उसके गुण तभी तक हैं जब तक उसमें जीवन है यानि आत्मा है।

जैसे पंखे की हवा, हीटर का ताप, फ्रीज की ठंडक, रेडियो की आवाज, बल्ब का प्रकाश, सब का मूल कारण विद्युत है। ताप, आवाज, प्रकाश सब विद्युत की ही भिन्न-भिन्न रूपों में अभिव्यक्ति है उसी प्रकार इस ब्रह्मांड में विभिन्न रूपों और गुणों की अपार राशि जो हम देखते हैं वह सभी एक ही चेतना रूपी परमात्मा की अभिव्यक्ति है। भगवान कहते हैं-

बलं बलवतां चाहं कामरागविवर्जितम्।
धर्माविरुद्धो भूतेषु कामोऽस्मि भरतर्षभ।।११।।

हे भरतश्रेष्ठ अर्जुन! बलवानों में काम और राग से रहित बल मैं हूं। मनुष्य में धर्म से अविरुद्ध (अर्थात् धर्मयुक्त) काम मैं हूं।

अर्जुन के सामने विभिन्न उदाहरण प्रस्तुत करते वक्त भगवान को लगा कि यह तो बलशाली योद्धा है अतः क्यों न इसे समझाने के लिए ऐसी भाषा का प्रयोग करें जो इसे सुपरिचित लगे अतः वे कहते हैं कि बलवानों का बल मैं हूं- लेकिन काम और राग से रहित।

काम अर्थात् कामना उन वस्तुओं के प्रति होती है जो हमारे पास

नहीं है, राग उनके प्रति होता है जो हमारे पास है। साधारणत: हम अपने बल का प्रयोग तभी करते हैं जब कुछ पाना या कुछ बचाना चाहते हैं। यह तो काम और राग से युक्त बल है। भगवान का कहना है कि यदि तुम कहीं देखो कि कामना और राग दोनों नहीं हैं फिर भी शक्ति निरन्तर कार्य कर रही है तो याद कर लो यह मेरी अभिव्यक्ति है। जैसे विवेकानन्द, ईसा, बुद्ध और शंकराचार्य काम और राग से रहित होने पर भी पूरे बल के साथ कार्य करते रहे। ऐसे व्यक्तियों को देखते हैं तो हमें दैवी शक्ति का आभास होता है। भगवान का उद्देश्य यह आभास कराना ही है।

सभी मनुष्यों की कामना भी दो प्रकार की होती है- एक धर्म युक्त और दूसरी धर्म विरुद्ध। जैसे शरीर की स्वच्छता, मन की पवित्रता, मानव को मानव बनाती है, यह उसका धर्म है अत: स्वच्छता, पवित्रता की कामना धर्म युक्त है, किन्तु दूसरों को शोषित पीड़ित करना मनुष्य का धर्म नहीं। ऐसे व्यक्ति को हम कहने लगते हैं- अरे वह कोई आदमी थोड़े ही है- पशु है पशु। किन्तु हिरण को मारकर खा जाना शेर का सहज स्वभाव है अत: हम कभी भी हिरण को मारने वाले शेर की प्रतारणा नहीं करते। यह तो उसमें स्पंदित होने जीवन की ही अभिव्यक्ति है। यह उसकी प्रकृति है जब कि मनुष्य के लिए यह स्वभाव की विकृति है।

इस प्रकार ये उदाहरण देकर भगवान स्पष्ट कर देना चाहते हैं कि वे सभी प्राणियों में विद्यमान होकर उनसे उनके सहज धर्मों का निर्वाह कराते हैं। भ्रष्ट आचरण तो मन का मल है जो परमात्मा के स्वरूप पर आवरण डालता है, उसे परमात्मा की अभिव्यक्ति समझना ठीक नहीं। हत्या करने वाला कहे कि यह तो भगवान ही करा रहा है तो यह तर्क उचित नहीं। अपनी अभिव्यक्ति को और स्पष्ट करते हुए कहते हैं-

ये चैव सात्त्विका भावा राजसास्तामसाश्च ये ।
मत्त एवेति तान्विद्धि न त्वहं तेषु ते मयि ।।१२।।

जितने भी सात्विक राजसिक और तामसी भाव हैं वे सब मेरे ही होते हैं ऐसा समझो। पर मैं उनमें और वे मेरे में नहीं हैं।

इस श्लोक को बहुत अच्छी तरह समझना आवश्यक है। हमारे मन में जो विचार उठते हैं उन्हें गुणों के अनुसार सात्विक, राजसी, तामसी, इन भागों में विभक्त किया गया है। हर व्यक्ति के मन में कम या अधिक तीनों प्रकार के विचार उठेंगे ही। कितना भी बड़ा संत (सात्विक भाव वाला) या कर्मठ (राजसी भाव वाला) व्यक्ति क्यों न हो, कभी तो उसके मन में नींद लेने या आराम करने का अर्थात् तामसी भाव आएगा ही। इस प्रकार ये तीनों भाव प्रकृति की देन है। ये तीनों हमारे जीवन, हमारी चेतना की सहज अभिव्यक्ति है। भगवान पिछले श्लोक में बता चुके हैं कि जो सहज प्रकृति प्रदत्त स्वभाव (धर्म) है उसे मेरी अभिव्यक्ति जानो।

बहुत से लोग ऐसी बातों का मनमाना अर्थ निकाल कर अपने बचाव के लिए उसका उपयोग करते हैं। एक व्यक्ति ने अपने भाई की हत्या कर दी। न्यायालय में शपथ खाने के लिए जब गीता दी गई तो उसने शपथ लेने के बजाय उसे खोला और यह श्लोक पढ़ कर सुनाया। इसकी पहली पंक्ति का अर्थ बताते हुए उसने दलील पेश की-मी लार्ड! जिस गीता की कसम खाने आप मुझे कह रहे हैं उसी में लिखा है कि सभी विचारों के कारण भगवान ही हैं अर्थात् भगवान ने ही अपने भाई को मारने का विचार मेरे मन मे पैदा किया। यदि उसने यह विचार नहीं दिया होता तो मैं भला मैं उसे क्यों मारता? इसलिए मी लार्ड! दोषी भगवान है, मैं नहीं। फांसी देनी है तो उसे दी जाए, मुझे नहीं।

अब ऐसी दलील को न्यायाधीश तो क्या, कोई भी व्यक्ति स्वीकार तो नहीं करेगा पर तर्क को काटने के लिए तो तर्क ही चाहिए। गीता की पंक्ति को उद्धृत कर कोई तर्क करे तो उसे गीता की पंक्ति द्वारा ही काटा जा सकता है। भगवान जानते थे कि ऐसी स्थिति हो सकती है इसलिए उन्होंने तुरंत दूसरी पंक्ति में ही कह दिया- लेकिन मैं उनमें और वे मेरे में नहीं।

यह एक सम्बन्धहीन संबन्ध है- सब कुछ होकर भी कुछ भी न होना। यह बात इतनी अटपटी लग सकती है कि हम उसे किसी हालत में स्वीकार करने को तैयार नहीं होंगे लेकिन एक उदाहरण से यह सहज ही समझ में आ जाएगी। कार पेट्रोल के बिना नहीं चल सकती। उसे

गति प्रदान करने वाला पेट्रोल ही है, वही उसका मूल कारण है लेकिन वह कैसे चलती है इसकी जिम्मेदारी पेट्रोल की नहीं। गाड़ी यदि खटारा हो, उसके कल पुर्जे ठीक काम न करें, उसका रख-रखाव ठीक न हो तो कदम कदम पर उतर कर उसे धक्के लगाना पड़ेगा। इसके लिए पेट्रोल को दोषी नहीं ठहराया जा सकता। कोई नौसिखिया यदि कार एक्सीडेंट कर दे और कोर्ट में जाकर कहे- मी लार्ड! दोषी पेट्रोल है मैं नहीं। सजा उसे दी जाए मुझे नहीं, तो जज महोदय ज्यादा से ज्यादा यही कर सकते हैं कि उसे जेल के बजाय पागलखाने भिजवा दें। ऐसी दलील को तो काटने के लिए भी वकील से नहीं कहा जाएगा।

हमारी भी सोचने की क्षमता, चलने फिरने, बोलने की शक्ति तो परमात्मा की ही अभिव्यक्ति है लेकिन इसके बाद बहुत कुछ हमारी मशीनरी पर निर्भर है। विचार उठना जीवन की निशानी है लेकिन उन विचारों को सही या गलत अर्थ देना हमारे मन की करतूत है उसे उचित या अनुचित दिशा में निर्देशित करना हमारी बुद्धि की करामात है और मन-बुद्धि को संचालित करना वासना का कार्य है। हमारे मन और बुद्धि की ट्यूनिंग ठीक नहीं होगी, इनका सही तरीके से रख रखाव नहीं किया जाएगा तो हमारे कार्य कभी भी उत्कृष्ट नहीं हो सकते, और इसके लिए दोषी हमें भगवान को नहीं, अपने आप को ही ठहराना चाहिए।

लेकिन सभी लोग अपने हर अच्छे बुरे कार्य के लिए भगवान को दोषी ठहरा देते हैं, उन्हें तत्व रूप से जानने का प्रयत्न नहीं करते। भगवान अगले श्लोक में इसके लिए अफसोस भी कर रहे हैं पर साथ ही कारण भी बता रहे हैं।

त्रिभिर्गुणमयैर्भावैरेभिः सर्वमिदं जगत् ।
मोहितं नाभिजानाति मामेभ्यः परमव्ययम् ।।१३।।

इन तीन गुण रूप भावों से मोहित होकर यह सारा जगत (इनसे परे) मेरे अव्यय रूप को नहीं जानता।

परमात्म तत्व के ज्ञान में बाधक है मोह। हमारे मन में सत्व रजस तमस इन तीन गुणों से मिश्रित विचार उठने स्वाभाविक हैं लेकिन हमें इनके साथ तादात्म्य नहीं करना चाहिए। अपने को इनसे पृथक्, इनका साक्षी चैतन्य मानना चाहिए। लेकिन हमें तो अहंता और ममता का रोग लगा होता है। हम इन विचारों में ऐसा खो जाते हैं कि सच क्या है यह समझ ही नहीं पाते। भगवान कहते हैं कि मैं अव्यय हूं। मेरा स्वरूप अविकारी है लेकिन मोह के कारण लोग मुझे ठीक से नहीं समझ पाते कि मैं सबमें होते हुए भी किसी में नहीं हूं।

जैसे एक डरपोक किस्म के आदमी को मजबूरीवश अंधेरे में निकलना पड़ा। उसने रास्ते में बिजली का एक खम्भा देखा जिसका बल्ब फूटा हुआ था और उसमें एक पतंग फंसी हुई थी। अंधेरे में उसने खम्भे को भूत समझ लिया। उसे लग रहा था कि भूत सर हिला रहा है। बस उसके सोचने समझने की सारी शक्ति विलुप्त हो गई, वह मोहित हो गया। अब तो उसे भूत कभी सर हिलाता हुआ नजर आए कभी उसकी ओर हाथ बढाता जान पड़े। उसकी घिग्घी बंध गई और वह बेहोश ही होने जा रहा था कि बगल से एक ट्रक गुजरा। उसकी हेडलाइट के प्रकाश में उसे ज्ञान हो गया कि जिसे उसने भूत समझा था वह खम्भा है। वह न तो हिलता है न चलता है। उसमें कोई परिवर्तन, कोई विकार नहीं होता। सारे विकार उसके मोह के खेल थे।

भूत नजर आने का कारण खम्भा ही है लेकिन यदि कोई खम्भे से पूछे- ''क्या तुममें भूत है?'' उसका उत्तर होगा- ''बिलकुल नहीं।'' फिर हम उससे पूछें कि क्या तुम भूत में हो तब भी वह कहेगा- ''बिलकुल नहीं।'' भूत की सत्ता खम्भे से ही है लेकिन वह न भूत में है न भूत उसमें है क्योंकि वास्तव में भूत है ही नहीं। भूत का भ्रम है जो खम्भे पर आरोपित है। जीव को भी जब ज्ञान हो जाएगा तब उसके सारे भ्रम मिट जाएंगे। उसे समझ आ जाएगा कि सब कुछ अव्यय परमात्मा ही है। विभिन्न नाम रूप तो हम मोह के वश उस पर आरोपित किए हुए हैं।

जीव बेचारा करे भी कया? भगवान की माया है ही ऐसी विचित्र। वे स्वयं कहते हैं-

दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया ।
मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते ।।१४।।

मेरी यह गुणमयी दैवी माया बड़ी दुरत्यय है (अर्थात् इससे पार पाना बड़ा कठिन है) जो केवल मेरे ही शरण होते हैं, वे इस माया को तर जाते हैं।

सत्व, रजस, तमस इन तीन गुणों के कारण हमें प्रकृति तथा जीव के जो विभिन्न खेल दिखलाई देते हैं उसे ही माया कहते हैं। भक्ति की भाषा में जो माया है वेदान्त की भाषा में वही वासना है। जीव-जगत के संबंध को वासना का खेल कहें या भगवान की माया कहें बात एक ही हैं।

हम जो कुछ भी कार्य करते हैं अपने विचारों से संचालित होकर करते हैं और विचारों की उत्पत्ति का कारण है वासना। इसी वासना में हम ऐसे उलझे होते हैं कि अपने आप को अपने त्रिगुणात्मक विचारों से पृथक कर नहीं पाते। कभी अपने को सुखी, कभी दुखी, कभी समझदार, कभी नासमझ, कभी निर्बल, कभी बलवान आदि मान कर उनमें ही तल्लीन रहते हैं। यही वासना (माया) का दुरत्यय पन है। इससे पार करने का एक ही तरीका है कि हम अपने आत्म रूप को पकड़ें। तब हम वासना की लहरों के हिचकोले नहीं खाएंगे और इस अपार सागर से तर जाएंगे। इसी बात को भगवान ने इन शब्दों में व्यक्त किया है- 'जो केवल मेरी ही शरण होते हैं वे इस माया से तर जाते हैं।' जैसे एक मछुआरे ने विशाल जाल फेंका। हजारों मछलियां उसमें फंस गई। वे बहुत फड़फड़ाती हैं पर जाल से निकल नहीं पाती। लेकिन एक मछली मछुआरे के पैरों के पास आ गई थी। वह उस जाल में फंसने से बच गई। इसी प्रकार जब हम अपने चिन्मय स्वरूप के नजदीक जाने का प्रयत्न रखेंगे तब यह जाल हमें उलझा नहीं पाएगा।

भक्ति की भाषा में इस श्लोक का अर्थ यह है कि भगवान की माया अपरम्पार है जो सभी को भुलावे में रखती है। माता यशोदा को उन्होंने मुख में ब्रह्माण्ड दिखा भी दिया फिर भी उन्हें कभी याद नहीं

आता था कि उनका लाला भगवान का अवतार है। वे तो दिन रात उसकी सुरक्षा के लिए ही चिन्तित रहती थी। फिर भी यशोदा माता और ब्रजवासियों को एक प्रकार से उनकी माया स्पर्श नहीं कर पाई, अर्थात् जग भ्रमित नहीं कर पाया क्योंकि उनकी एकमात्र गति श्रीकृष्ण ही थे। जो उनकी शरण होते हैं उनकी दृष्टि उनकी ओर होती है, तीनों गुणों अर्थात् संसारिक विचारों और विषयों की ओर नहीं।

यहां मामेव कहने का तात्पर्य यह है कि जो **केवल** मेरी शरण लें वही तरते हैं। हम त्वमेव माता जपें तो भगवान के सामने और साथ-साथ चिन्ता धन जमा करने की भी रखें तो माया के चंगुल से छूट नहीं पाएंगे। अपने शरीर और धन को अपना न मानकर भगवान का ही मानेंगे, उन्हें उनकी सेवा में लगाने को ही अपना कर्तव्य समझेंगे तो फिर देखिएगा, कैसे सारे बंधन कटेंगे।

इस प्रकार भगवान ने इस श्लोक में माया को दुस्तर अर्थात् रोग को भयानक कहकर छोड़ नहीं दिया, उससे पार पाने का उपाय भी बताया है। रोग की भयानकता के बारे में कभी-कभी बहुत कड़े शब्दों का व्यवहार करना डाक्टर के लिए जरूरी हो जाता है ताकि हम उसकी गंभीरता को समझते हुए खूब सावधानी से कदम उठाएं।

भगवान की माया का पार कौन पा सकता है इसे और स्पष्ट बताने के लिए अगले श्लोक में यह बताएंगे कि कौन इसमें फंसा रहता है। सफेद अक्षर तभी सुन्दर ढंग से उभरते हैं जब पृष्ठभूमि काली हो।

न मां दुष्कृतिनो मूढाः प्रपद्यन्ते नराधमाः ।
माययापहृतज्ञाना आसुरं भावमाश्रिताः ।।१५।।

दुष्कर्म करने वाले, मनुष्यों में नीच, माया द्वारा अपहृत ज्ञान वाले मूढ तथा आसुरी भाव वाले मनुष्य मुझे नहीं खोजते।

लोग कहने को कह देते हैं कि भगवान भवसागर से पार करो, गिरधारी अब आन मिलो, पर सच बात यह है कि भगवान को पाना चाहता

कोई नहीं। कम से कम अपनी सुख सुविधा और धन की कीमत पर तो कदापि नहीं। हां सारे सुख बने रहे, छल कपट चलते रहें, भोग मिलते रहें और इन सबके साथ भगवान भी विराजमान रहे पूजा घर में तब तो फिर भी चल सकता है लेकिन कुछ को इसमें भी डिस्टरबेंस लगता है। आइए देखें ये लोग कौन हैं-

दुष्कृतिनः- दुष्कर्म करने वाले- जिन्हें श्रेय मार्ग पर नहीं प्रेय मार्ग पर चलने का अभ्यास हो गया है उन्हें लगता है कि जो उन्हें चाहिए वह दुष्कर्मों द्वारा आसानी से प्राप्त हो सकता है। दिन भर मजदूरी करने से तो रात को रूखी-सूखी रोटियां ही मिलेंगी लेकिन राह चलते व्यक्ति का पर्स छीन कर तो ठाठ से हलवा पूरी उड़ाया जा सकता है। ऐसे लोगों की आत्मा कभी-कभी धिक्कारती भी है तो वे उसे डपटकर चुप करा देते हैं या शराब के नशे में गम गलत कर लेते हैं। वे चाहते ही नहीं कि शरीर और मन से आगे झांका भी जाए, आत्मा को जानने के लिए साधना करना तो बहुत दूर की बात है।

नराधमाः- मनुष्यों में नीच कोटि के लोग मानव देह धारण कर भी पशु समान ही हैं। पशु और मनुष्य में मुख्यतया दो अन्तर हैं। एक तो यह कि पशु केवल अपनी शारीरिक जरूरतों के प्रति चैतन्य होता है और थोड़ा बहुत अपने परिवार के प्रति, जब तक उनके बच्चे छोटे रहते हैं या अंडे की अवस्था में होते हैं। इससे परे किसी दूसरे के सुख-दुख के प्रति उनमें कोई चेतना नहीं होती। दूसरा अन्तर यह है कि उनमें विवेक अर्थात् भला बुरा सोच समझकर निर्णय उठाने की क्षमता नहीं होती। वे आवेग में कार्य करते है। बदले और प्रतिहिंसा की भावना को दबाने, काम के आवेग को रोकने आदि से उन्हें कोई मतलब नहीं होता। यह क्षमता तो मनुष्य में ही है। लेकिन सोच समझ कर देखें। क्या समाज में ऐसे लोगों की कमी है जो अपने स्वार्थ से टस से मस भी नहीं होते या जो वही करते हैं जो उनका मूड होता है। मूड के अनुसार चलने वाले ये मूढ भी शरीर मन से परे आत्मा में कोई दिलचस्पी नहीं रखते।

माययापहृतज्ञानाः- ऐसे व्यक्ति जिनके ज्ञान का अपहरण माया ने कर लिया है। कुछ लोग बड़े ज्ञानी होते हैं। उन्होंने शास्त्रों का भी भरपूर

अध्ययन किया है। अच्छी-अच्छी बातें जानते हैं। दूसरों को लेक्चर पिला सकते हैं, त्याग का मार्ग दिखा सकते हैं लेकिन स्वयं अपने पुत्र पौत्रों के मोह या कुर्सी के लालच में इतना फंसे होते हैं कि अपने प्रयोग के वक्त उनका ज्ञान हवा रहता है। इसकी सबसे बड़ी मिसाल तो आज के राजनेता हैं जिन्होंने बड़े धर्मशास्त्र भी पढ़े हैं संविधान का भी पूरा ज्ञान रखते हैं उनके आह्वान पर दूसरे प्राण त्यागने खड़े हो जाते हैं और वे स्वयं अपने बेटों दामादों के लिए असंवैधानिक तरीकों से कम्पनियां खरीदते रहते हैं। क्या करें बेचारे! परिवार का मोह होता ही ऐसा है!

ये सभी आसुरी भाव वाले व्यक्ति होते हैं। असु का अर्थ है इन्द्रियां। असु अर्थात् इन्द्रियों में रमने वाले असुर होते हैं। भगवान ने सोलहवें अध्याय में इनकी चर्चा बड़े विस्तार से की है। इनके लिए इन्द्रिय सुख ही सबसे बड़ा प्राप्तव्य है। ये कभी कभार मंदिर जाते या भगवान के सामने मत्था टेकते दिखाई भी देते हैं तो केवल इसलिए कि उन्हें धन चाहिए, पुत्र चाहिए, कुर्सी चाहिए या अपने शत्रुओं का विनाश चाहिए। भगवान की चाह में भगवान के द्वारे जाने वाले लोग हैं कितने?

करुणावरुणालय भगवान तो ऐसों को भी अपनाने तैयार हैं जो अपने मतलब के लिए ही सही, उनके द्वार पर आएं तो। अपने भक्तों की श्रेणियां गिनाते हुए भगवान कहते हैं-

चतुर्विधा भजन्ते मां जनाः सुकृतिनोऽर्जुन ।
आर्तो जिज्ञासुरर्थार्थी ज्ञानी च भरतर्षभ ।।१६।।

हे अर्जुन! पवित्र कर्म करने वाले चार प्रकार के मनुष्य मुझे भजते हैं- आर्त, जिज्ञासु, अर्थार्थी तथा ज्ञानी।

पिछले श्लोक में भगवान ने दुष्कृतिनो शब्द का प्रयोग किया था इस बार सुकृतिनो शब्द का प्रयोग कर रहे हैं। पाप कर्म करने वाले भगवान की पूजा नहीं करते हैं ऐसी बात नहीं। बहुत लुटेरे डकैत काली मंदिर में मत्था टेक कर ही अपने धंधे में निकलते हैं। लेकिन भगवान उन्हें अपने भक्तों की श्रेणी में रखने को तैयार नहीं हैं। इससे समझ लेना चाहिए

कि काले धंधे से बड़े-बड़े मंदिर बनाकर उन्हें खुश करने की कोशिश करना व्यर्थ है। व्यक्ति आर्त हो या धन चाहने वाला हो तो भी भगवान उसे स्वार्थी न कहकर भक्त ही मानेंगे बशर्ते वह सुकृत अर्थात् अच्छे कर्म करने वाला हो। तात्पर्य यह है कि भगवान के भक्तों की श्रेणी में अपना नाम लिखना हो तो पहली शर्त सदाचार, सत्कर्म, सद्व्यवहार है इसके बाद हम चारों में से कुछ भी हो सकते हैं-

१. आर्त भक्तः- जो व्यक्ति दुखी होने पर अपने दुःख दूर करने के लिए केवल भगवान को ही पुकारते हैं, उन्हीं का सहारा ढूंढ़ते हैं, दूसरे किसी से आशा नहीं रखते वे आर्त भक्त हैं। हमें यह नहीं सोचना चाहिए कि भगवान के मंदिर में अपना दुखड़ा लेकर जाने वाला व्यक्ति अधम है, वह भगवान का ध्यान थोड़े ही कर रहा है, मंदिर में भी ध्यान तो उसका अपने दुखों में ही है। हम इस तरह की बात सोच कर स्वयं को ऊपर उठाने की कोशिश करें तो हमारी मर्जी लेकिन दयालु भगवान इसमें बुराई नहीं देखते। वे तो यही देखते हैं कि यह व्यक्ति संसार के सभी आश्रयों को त्याग मेरी ही ओर आशा भरी नजरों से देख रहा है। वे तो अनन्यता के इस भाव मात्र से ही पिघल जाते हैं। जीवन में अपने दुःखों के लिए हम सब किसी न किसी को दोषी ठहराना चाहते हैं। दोषी ठहराना ही है तो कन्हैयालाल को ठहराकर देखें, लड़ना ही है तो उसी से लड़कर देखें, मांगना है तो उसी से मांग कर देखें। जीवन कैसे महकेगा, भगवान कैसे मन में समाते जाएंगे यह अनुभव करने की बात है।

२. अर्थार्थी भक्तः- अर्थार्थी का मतलब है 'अर्थ' यानी धन चाहने वाला। यहां अर्थ के अन्तर्गत सभी लौकिक उपलब्धियां मान लेनी चाहिए। कुछ व्यक्ति लौकिक उपलब्धियां पाना चाहते हैं किन्तु अपनी कामना की पूर्ति के लिए भगवान के सामने ही हाथ फैलाते हैं। इसका सबसे अच्छा उदाहरण ध्रुव है। उन्हें अपने पिता की गोद में बैठने का भी अधिकार नहीं मिला। वे अपने न्यायपूर्ण अधिकार की प्राप्ति के लिए ही तपस्या कर रहे थे। साधारण अर्थार्थी और भक्त अर्थार्थी का अन्तर जरा और स्पष्ट कर लें। जो धन प्राप्ति के लिए झूठ, कपट, बेईमानी आदि करते हैं वे भी धन के लिए समय-समय पर भगवान को पुकारते हैं। वे अर्थार्थी हैं पर भक्त नहीं हैं। झूठ कपट आदि पर उनका विश्वास जितना है उतना

भगवान पर नहीं है। भगवान ने इसलिए भक्तों की एक शर्त **'सुकृतिनो'** यानी 'सत्कर्म करने वाला' पहले ही गिना दी है। भक्त तो सदा भगवान के ही परायण होता हैं, उनके साथ अपनापन मानता है पर कभी पूर्व संस्कारों अथवा और किसी कारण से शरीर की अनुकूलता की इच्छा हो जाती है और इस इच्छा की पूर्ति के लिए गोविन्द को ही पुकारता है तो वैसा व्यक्ति अर्थार्थी भक्त है।

आर्त और अर्थार्थी दोनों प्रकार के भक्त सकाम है। एक प्रतिकूलता मिटाना चाहता है दूसरा अनुकूलता पाना चाहता है लेकिन मुख्य बात यह है कि वे भगवान के साथ पांच रुपये या सवा मन का प्रसाद चढ़ाने की सौदेबाजी नहीं करते। उनका तो भगवान से अपनापन होता है। मैं भगवान का हूं या भगवान मेरे हैं के भाव के साथ वे संकट की घड़ी में उसे पुकारते हैं। इससे कामना पूर्ति के साथ चित्त की शुद्धि भी होती है और भगवान इन्हें अपना प्रिय मानकर अपनाते हैं। धीरे-धीरे उनकी कामनाएं भी मिट जाती हैं। मन में मनमोहन के आ जाने के बाद दूसरा कुछ मन को मोह नहीं पाता।

३. जिज्ञासु भक्त- जिन भक्तों में अपने स्वरूप को जानने की प्रबल इच्छा रहती है वे जिज्ञासु भक्त कहलाते हैं। मैं कौन हूं? मेरा वास्तविक स्वरूप क्या है? यह ब्रह्मांड क्या है? इसे किसने बनाया? जीव-जगत-ईश्वर का संबंध क्या है? जीव दु:ख क्यों पाता है? हमारे जीवन का उद्देश्य क्या है? हमारी परमगति क्या है? आदि प्रश्नों के समाधान के लिए जो श्रवण, मनन, निदिध्यासन करते हैं वे जिज्ञासु भक्त हैं। इन्हें सांसारिक उपलब्धियों की कामना नहीं होती।

४. ज्ञानी भक्त- ज्ञानी भक्त को अनुकूल से अनुकूल और प्रतिकूल से प्रतिकूल परिस्थिति, व्यक्ति, वस्तु, सभी में परमात्मा दर्शन होते हैं। उनकी जिज्ञासाओं का समाधान भी हो चुका रहता है। वे जानते हैं कि जीवात्मा परमात्मा अद्वैत है। उन्हें कुछ पाना नहीं है कुछ चाह नहीं है। वे तो प्रभु के द्वार पर केवल अपने आप को उत्सर्ग कर देने के भाव से खड़े रहते हैं। उनके हृदय की एक ही पुकार होती है कि उनके और भगवान के बीच जो जीव भाव का झीना आवरण है वह भी हट

जाए। वे अपने प्रभु के साथ एक हो जाएं, बिल्कुल एक। जैसे मीराबाई थी, जिन्हें न राजमहल की इच्छा की, न जहर का दुख। उन्हें गिरधारी के विषय में कोई जिज्ञासा भी नहीं थी। 'मेरे तो गिरधर गोपाल दूसरो न कोई' में कोई संदेह, कोई प्रश्न चिन्ह नहीं। यह तो उनका दृढ़मत था। और गिरधर के आगे नाचते-नाचते सचमुच वे उनमें समा गई। ज्ञानी भक्त को प्रेमी भक्त भी कह सकते हैं।

करुणासिन्धु भगवान सभी प्रकार के भक्तों को समान प्यार देते हैं, सभी को अपनाते हैं लेकिन सबसे अच्छा किसे मानते हैं? भगवान कहते हैं-

तेषां ज्ञानी नित्ययुक्त एकभक्तिर्विशिष्यते ।
प्रियो हि ज्ञानिनोऽत्यर्थमहं स च मम प्रियः ।।१७।।

उन (चार भक्तों) में मेरे में निरन्तर लगा हुआ अनन्य भक्ति वाला ज्ञानी विशिष्ट हैं क्योंकि ज्ञानी भक्तों को मैं अत्यन्त प्रिय हूं और वह भी मेरे को अत्यन्त प्रिय है।

आर्त, अर्थार्थी, जिज्ञासु, और ज्ञानी चारों की अनन्यता इस भाव में एक जैसी है कि चारों आश्रय भगवान का ही लेते हैं किसी भी संसारिक वस्तु व्यक्ति या द्रव्य का नहीं लेकिन प्रथम तीन से ज्ञानी की अनन्यता में एक विशेष बात है।

आर्त, जिज्ञासु, अर्थार्थी भले ही आश्रित भगवान के ही हो लेकिन उनके लिए कुछ प्राप्तव्य है जिसकी ओर भी उनका ध्यान रहता है लेकिन ज्ञानी के लिए तो कुछ भी प्राप्तव्य नहीं। उसे न किसी चीज से छूटना है, न किसी चीज को पाना है, न अपनी शंकाओं और जिज्ञासाओं का समाधान खोजना है अतः उसकी भक्ति में जैसी निरन्तरता होती है वैसी दूसरों में नहीं होती। इसलिए भगवान उसे नित्य युक्त और एक भक्ति कहते हैं। उसका आकर्षण केवल भगवान में हैं, सब कुछ करते वक्त उसका मन निरन्तर उन्हीं का ही ध्यान करता रहता है।

दूसरी बात यह है कि आर्त का दुख मिट जाए, अर्थार्थी को सुख मिल जाए, जिज्ञासु की जिज्ञासा का समाधान हो जाए तो संभव है कि उनकी भक्ति की तीव्रता में कमी आ जाए किन्तु ज्ञानी भक्त का प्रेम तो दिनों दिन बढ़ेगा ही, घटने का प्रश्न ही नहीं उठता।

यहां विशेष बात यह है कि ज्ञानी का अर्थ वह भक्त नहीं जिसने वेद शास्त्रों का अध्ययन कर समस्त ज्ञान प्राप्त कर लिया हो। ज्ञानी भक्त के लिए शास्त्रों का ज्ञान नहीं बल्कि भक्ति की निरंतरता आवश्यक है। उद्धव जी बड़े ज्ञानी थे, देव गुरु बृहस्पति के शिष्य रह चुके थे लेकिन फिर भी भगवान उनसे विशिष्ट गोपियों को मानते हैं जो उनकी दृष्टि में अनपढ़, मूर्खा थीं। भगवान ने उद्धव को भक्ति की पूर्णता का ज्ञान कराने गोपियों के पास ही भेजा और उद्धव ने पाया कि दही बिलोते, दूध दुहते, धान कूटते, हर कार्य करते वक्त निरंतर वे कन्हैया के ध्यान में रमी रहती थी। उनकी भक्ति को ही भगवान ने आदर्श माना है क्योंकि उनमें अपने सुख का सर्वथा त्याग था, वे कृष्ण के सुख को ही अपना सुख मानती थी। वे यदि स्वयं खाती पीती या शृंगार भी करती थी तो भाव यही रहता था कि उनका कन्हैया सुखी होगा। उद्धव ने स्वयं भी अनुभव किया कि उनका शुष्क ज्ञान गोपियों के ज्ञान के समक्ष थोथा है। उद्धव को तो उसके बाद देह त्याग के वक्त भी भगवान ने उपदेश देना आवश्यक समझा जिसे उद्धव गीता कहते हैं, लेकिन गोपियों को कभी किसी ज्ञानोपदेश की आवश्यकता नहीं थी। इससे स्पष्ट है कि ज्ञान की पराकाष्ठा प्रेम में होती है इसलिए भगवान कह रहे हैं कि ज्ञानी अपनी भक्ति की निरंतरता और अनन्यता के साथ मुझे अत्यन्त प्रेम करते हैं और मैं भी उन्हें प्रेम करता हूं। तब क्या ज्ञानी के आलावा बाकी हीन है? नहीं! भगवान कहते हैं।

उदाराः सर्व एवैते ज्ञानी त्वात्मैव मे मतम् ।
आस्थितः स हि युक्तात्मा मामेवानुत्तमां गतिम् ॥१८॥

पहले कहे हुए सबके सब बड़े उदार (श्रेष्ठ भाव वाले) हैं, लेकिन ज्ञानी तो मेरा स्वरूप ही है, ऐसा मेरा मत है। (क्योंकि) वह युक्तात्मा है और मेरे में दृढ़ आस्था वाला है जिससे उत्तम कोई गति नहीं है।

एक मां के कई बच्चे हैं। किसी को मां की गोद चाहिए, किसी को खिलौने चाहिए, किसी को मां से कुछ सीखना-जानना है। सभी मां को घेरे रहेंगे। मां के लिए कौन कम प्यारा होगा? किसी को गोद में उठाएगी, किसी को बहलाएगी, किसी को दूध पिलाएगी, किसी को पढ़ाएगी। उसका सबसे बड़ा पुत्र युवा हो चुका है। इसे इन सबकी जरूरत नहीं। वह तो केवल मां से प्रेम करता है- शुद्ध प्रेम और निरन्तर उसकी सेवा करना चाहता है। अपने विभिन्न बच्चों के प्रति मां के प्रेम के मूल्यांकन कैसे करेंगे?

जो सबसे कमजोर, सबसे दुर्बल, सबसे छोटा है, उसे तो वह सबसे ज्यादा पुचकारती है। युवा पुत्र की ओर तो वह विशेष ध्यान देती प्रतीत भी नहीं होती, लेकिन हृदय में उसके लिए अत्यन्त प्रेम होता है। उसे वह सर्वोत्तम मानती है। बाकी को वह उसके जैसा बनाना चाहती है, इसीलिए पुचकारती, दुलारती और पालती तथा शिक्षित करती है।

इसी प्रकार भगवान भी सभी प्रकार के भक्तों को प्यार करते हैं, लेकिन ज्ञानी भक्त को युक्तात्मा समझते हैं और श्रेष्ठ मानते हैं। उनका मत है कि उससे उत्तम गति और कुछ नहीं हो सकती। ऐसे भक्त और भगवान क्षण-क्षण एक-दूसरे की ओर दौड़ते प्रतीत नहीं होते, लेकिन उसके भावों में दूसरों से भी अधिक निरंतरता बनी रहती है।

इस श्लोक में बड़ी मीठी बात ध्यान देने की है। भक्त तो भगवान को उदार समझता है, उन्हें कृपासिंधु करुणावरुणालय आदि सम्बोधनों से विभूषित करता है और भगवान हैं कि भक्तों को उदार बता रहे हैं। वे उस भक्त को भी उदार कह रहे हैं जो उनके पास धन मांगने आया है। इस दुनिया के लोगों को भगवान की चाह है या नहीं, भगवान तो इनके प्रेम के लिए पलकें बिछाए हुए हैं, कोई किसी भी बहाने से ही सही, एक बार मेरी ओर देख तो ले। भगवान की यह प्रेमपरवशता ही उनको भक्त के पराधीन कर देती है।

अपने अत्यन्त समझदार और कुशल पुत्र की प्रशंसा करना आरम्भ करने के बाद मां भला जल्दी रुकती है? भगवान भी विभोर है अपने प्रिय भक्त के गुणगान में। वे कहते हैं:-

बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान्मां प्रपद्यते ।
वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः ।।१९।।

बहुत जन्मों के अन्त में (अर्थात् मनुष्य जन्म में) 'सब कुछ परमात्मा ही है' ऐसा जानकर जो मेरी शरण लेता है वह महात्मा अत्यन्त दुर्लभ है।

भगवान के इस श्लोक का भाव कुछ उस मां का जैसा ही है जो कहती है 'मेरे बड़े बेटे जैसा तो दूसरा कहीं मिलना ही मुश्किल है।' वे अपने ज्ञानी भक्त के बारे में कह रहे हैं कि 'जो सब कुछ परमात्मा ही है' इस ज्ञान के साथ मेरी शरण में आता है वह महात्मा है और ऐसे महात्मा बहुत ही कम होते हैं यह बताने के लिए उन्होंने सुदुर्लभ अर्थात् दुर्लभतम शब्द का प्रयोग किया है। जो वस्तु दुर्लभ होती है वही मूल्यवान होती है। इस प्रकार सुदुर्लभ शब्द का प्रयोग कर भगवान बता रहे हैं कि उनकी नजरों में ज्ञानी भक्त का स्थान कितना ऊंचा है।

असल में भगवान को अपने जीवन में एक उच्च स्थान देना, उनके प्रति आदर रखते हुए भक्ति करना एक बात है लेकिन 'सब कुछ वही है, उनके बिना और कुछ नहीं' का भाव जब आ जाता है तो उसकी बराबरी नहीं हो सकती। जैसे धन का सांसारिक जीवन में कितना महत्व है यह कौन नहीं समझता लेकिन 'दुनिया में सब कुछ पैसा ही है, पैसे बिना कहीं कुछ नहीं' सोचने वाले का पैसे के प्रति जैसा व्यवहार होता है उसकी बराबरी क्या कोई साधारण व्यक्ति कर सकता है? ऐसे व्यक्ति के पास पैसा न आए यह क्या कभी हो सकता है?

यहां 'बहूनां जन्मनामन्ते' शब्द का प्रयोग हुआ है जिसका अर्थ है 'बहुत जन्मों के अन्त में।' लेकिन इसका मतलब यह नहीं समझना चाहिए कि अभी तो हम इस ओर चलना शुरु भी करेंगे तो बहुत जन्म लगेंगे। पता नहीं कुछ होगा कि नहीं? क्या फायदा होगा साधना के चक्कर में पड़ कर? संसार का जो थोड़ा बहुत सुख भोग रहे हैं उससे भी हाथ धो बैठेंगे। वास्तव में बात यह है कि बहुत जन्मों के अन्त में यह मनुष्य जन्म मिलना है। जब सारी वासनाएं, बहुत सारा कलुष विभिन्न योनियों

में जन्म लेकर धुल चुका होता है तब मनुष्य योनि मिलती है जिसमें पुरुषार्थ की संभावना है। इसीलिए तो अन्य योनियों को भोग योनि और मनुष्य योनि को कर्मयोनि कहा गया है। हमें यह जन्म मिला है तो इसे क्यों व्यर्थ गंवाएं। अभी हमारा ध्यान संसार से हट नहीं रहा तो हम रोने वाले बच्चे, मांगने वाले बच्चे ही बनकर मां के आंचल को पकड़े तो सही। मां के पास सीख पढ़कर एक दिन समझदार युवक बन ही जाएंगे जिस पर मां भी गर्व करें।

आर्त होकर ही पुकारें, अथार्थी बनकर ही उनके द्वारे हाथ पसारे, एक दिन उन्हें तत्व से जानने की जिज्ञासा अवश्य जागेगी तब ज्ञान के साथ प्रेम के प्रवाह को कोई नहीं रोक सकता। शर्त केवल अनन्यता की है।

कामैस्तैस्तैर्हृतज्ञानाः प्रपद्यन्तेऽन्यदेवताः ।
तं तं नियममास्थाय प्रकृत्या नियताः स्वया ।।२०।।

उन-उन कामनाओं के कारण जिनका ज्ञान अपहृत हो गया है ऐसे मनुष्य अपनी प्रकृति के वशीभूत होकर अन्य देवताओं की शरण जाते हैं तथा उनके नियमों को धारण करते हैं।

कहने को तो प्रायः सभी जानते और मानते हैं कि सबमें भगवान है। जीवन का परम लक्ष्य भगवान को पाना है। सच्चा सुख और अखण्ड आनन्द उसी से मिलेगा लेकिन हम इस ज्ञान के अनुरूप व्यवहार कर कहां पाते हैं? इसका कारण यह है कि विवेक तो है पर वह कामना द्वारा ढक लिया गया है। कामना ने ज्ञान का अपहरण कर लिया और हम अज्ञानियों की भांति व्यवहार करने लगे। सुख शांति की राह क्या है जानते हुए भी भटक गए। जैसे स्कूल जाता हुआ बच्चा बन्दर का खेल देखने की इच्छा में स्कूल के बदले मेले की ओर चल देता है वही अवस्था हमारी है। कामना में अंधे होकर हम अपने स्वरूप से अलग हो जाते हैं। हमारा नियंत्रण बुद्धि के हाथ में नही रहता वह मन की वासनाओं के हाथ में चला जाता है। हम अपनी वासना, अपनी प्रकृति, अपने स्वभाव,

अपने संस्कारों के गुलाम बन कर कार्य करने लगते हैं। गीता कहती है कि ऐसे व्यक्ति अपनी-अपनी कामनाओं के वशीभूत होकर विभिन्न देवताओं को उनके अपने-अपने नियमों के अनुसार भजते हैं।

देवता का अर्थ पहले भी स्पष्ट किया जा चुका है। देवता फलदायिनी शक्तियां हैं। एक देवता किसी एक की विशेष शक्ति का स्वामी हो सकता है। पौराणिक काल के देवता गणेश, इन्द्र आदि थे। गणेश बाधाएं दूर कर सकते हैं, इन्द्र वर्षा कर सकते हैं। आधुनिक काल के देवता मिनिस्टर, आफिसर, पुलिस आदि हैं जो प्रसन्न हो जाएं तो हमारे खास-खास काम बना सकते हैं। इन्हें प्रसन्न करने के विभिन्न तरीके हैं। किसी को चापलूसी चाहिए, किसी को धन, किसी को विदेशी शराब। हम अपना काम बनाने के लिए उन्हें भेंट चढ़ाकर खुश करते रहते हैं। कुछ अपने को धार्मिक समझने वाले लोग इन सबके साथ तरह-तरह के पाठ बिठाते हैं, मंत्र जप करते हैं, मनौतियां मान कर दाढ़ी बढ़ाते हैं, मुंडन कराते हैं। हर देवता के पूजन की अलग-अलग विधि है, अलग-अलग नियम है। किसी के लाल फूल चढ़ता है किसी के सफेद। किसी के लड्डू का भोग चढ़ाया जाता है किसी के चने गुड़ का ही। कोई-कोई अपने पूजा घर में पन्द्रह बीस देवी-देवताओं की तस्वीर टांगे रखते हैं और दो-दो मन्त्र हर देवता के नाम का पढ़ते हैं। उन्हें लगता है कि किसी देवता की पूजा छूट गई तो वह नाराज हो जाएगा। ऐसे लोग अपने को बड़ा होशियार, बुद्धिमान, ज्ञानी और धर्मात्मा समझते हैं लेकिन भगवान उन्हें हृत ज्ञानाः अर्थात् 'जिनके ज्ञान का अपहरण हो गया हो' कह रहे हैं।

देखें भगवान और क्या कह रहे हैं इस विषय में :-

यो यो यां यां तनुं भक्तः श्रद्धयार्चितुमिच्छति ।
तस्य तस्याचलां श्रद्धां तामेव विदधाम्यहम् ।।२१।।

जो-जो भक्त जिस-जिस देवता का श्रद्धापूर्वक पूजन करना चाहता है उस-उस देवता के प्रति मैं उसकी श्रद्धा को दृढ़ कर देता हूं।

यहां जब भगवान यह कह रहे हैं कि मैं उसकी श्रद्धा को दृढ़ कर देता हूं तो इसका तात्पर्य यह है कि यह उनका विधान है। जिसकी जिस देवता में श्रद्धा हो गई वह फिर दृढ़ होती ही जाती है। सृष्टिकर्ता ने मनुष्य की प्रकृति बनाई ही ऐसी है। मनुष्य को विचारों की स्वतंत्रता मिली हुई है। पशुओं की तरह सब मनुष्य एक से नहीं होते अर्थात् एक जैसा व्यवहार-विचार नहीं करते। यदि मनुष्य को भी भगवान ने एक जैसा बना दिया होता तो फिर पुरुषार्थ की स्वतंत्रता कहां रह गई? जो गिर जाता है वही उठ भी सकता है। जो पतित हो सकता है, उत्थान की संभावना भी उसी के लिए है।

विभिन्न मनुष्यों की श्रद्धा विभिन्न प्रकार की होती है। किसी की श्रद्धा मिनिस्टर, पुलिस, आफिसर आदि आधुनिक देवताओं में होती है तो वह बड़े ही भक्ति-भाव से उन्हीं को खुश करने का प्रयत्न करता रहता है। कोई पूजा, पाठ, मनौतियों द्वारा प्रमोशन पाने या पुत्री का विवाह करना चाहते हैं। कोई इन सबको बेकार मान कर केवल कर्म पर ही विश्वास करते हैं।

मन में एक बार कोई बात दृढ़तापूर्वक बैठ जाती है तो उसे ही श्रद्धा कहते हैं। फिर तो स्वाभाविक रूप से वह हर घटना को अपने विशिष्ट दृष्टिकोण से देखने लगता है। सबको अपना-अपना तरीका एकदम ठीक जान पड़ता है। जिसे घूंस देकर काम निकालने की आदत पड़ी है वह देवी-देवताओं की मनौतियां मानने को निरी मूर्खता समझता है। मनौतियां मानने वाला घूस देता भी है तब भी यही समझता है कि सारा मामला उसके देवता ने ही 'फिट' करवा दिया। पुरुषार्थ पर श्रद्धा रखने वाले इन दोनों को हीन समझकर जी-जान से कर्म में जुटे रहते हैं। फल तो सभी को मिलता है और इससे उनकी श्रद्धा दृढ़ हो जाती है। इसी को भगवान अगले श्लोक में कह रहे हैं:-

स तया श्रद्धया युक्तस्तस्याराधनमीहते ।
लभते च ततः कामान्मयैव विहितान्हि तान् ।।२२।।

उस (दृढ़ की हुई) श्रद्धा से युक्त होकर वह मनुष्य उस देवता की उपासना करता है और उसकी कामना पूरी भी हो जाती है परन्तु वह कामना पूर्ति मेरे द्वारा विहित की हुई होती है।

भगवान संसारिक कामनाओं की पूर्ति का चक्कर समझा रहे हैं जो उनके द्वारा ही विहित किया हुआ है। पहले विचार आता है। वह कामना का रूप लेकर दृढ़ होता है। तब हम कामना की पूर्ति का उपाय ढूंढते हैं। उपाय बहुतेरे हैं पर हमारी प्रकृति के अनुकूल जो उपाय होता है वह हमें जंच जाता है और फिर हम दूसरे उपायों को खारिज कर उसी के विषय में अधिक से अधिक सोचते रहते है। हर तरह से सोच विचार लेने पर उसके प्रति हमारी श्रद्धा दृढ़ होती जाती है। हमें अपनी योजना सर्वश्रेष्ठ मालूम होती है और हम उसे कार्यरूप देने के लिए जी-जान से जुट जाते हैं और तब फल तो मिलता ही है यानी हमारी कामना पूरी होती ही है। तब अपनी कार्यशैली के प्रति हमारी आस्था और दृढ़ होती जाती है।

यहां एक व्यवहारिक बात ध्यान देने की है जिसमें सांसारिक सफलता का राज छुपा हुआ है। कुछ लोगों को यह श्लोक पढ़कर लग सकता है कि भगवान ने यह कह दिया कि जो जो जिस जिस प्रकार से कामना पूर्ति करना चाहता है उसकी पूर्ति वे करवाते हैं लेकिन यह बात एकदम बकवास है। मैं तो कितने दिन से लगा हुआ हूं। मेरी कामना तो पूरी हुई नहीं। मैंने तो एक उपाय ही क्या कहें, सारे उपाय आजमा कर देख लिए, किसी में सफलता नहीं मिली।

ऐसे व्यक्ति श्रद्धा शब्द के महत्व को समझें। भगवान कह रहे हैं कि दृढ़ श्रद्धा से युक्त होकर जब व्यक्ति प्रयत्न करता है तो सफलता का सेहरा पहनाते हैं। यानि अधूरे मन से किए गए काम में सफलता नहीं मिलती। कोई भी सांसारिक उपलब्धि पानी है तो पहले तो लक्ष्य (कामना) दृढ़ हो, फिर उसे पाने के लिए दृढ़ संकल्प शक्ति हो, फिर विचार द्वारा योजना बनाई जाए और उस योजना के प्रति हमारा विश्वास दृढ़ हो तभी हम उसे दृढ़तापूर्वक कार्यान्वित कर पाएंगे और लक्ष्य की प्राप्ति तभी

होगी। यदि कार्य एक योजना के अनुसार कर रहे हैं और साथ-साथ दूसरी योजना पर विचार करते हुए उसे ठीक समझ रहे हैं तो सफलता कभी नहीं मिलेगी अथवा अपनी समझ में तो अमुक उपाय ठीक है, पर दूसरा कह रहा है तो उसकी बात मान कर उस ढंग से चलेंगे, तो भी पूरी कार्यपटुता से कर्म नहीं कर पाएंगे और सफलता मिलने में संदेह ही रहेगा। अब प्रश्न उठता है कि यदि भगवान स्वयं ही सफलता के लिए देवताओं को पूजने का यह गुर सिखा रहे हैं और यह भी कह रहे हैं कि मैं फल देता हूं तब बस आगे सोचना ही क्या है! इस गुर को सीख कर जुट जाएं अपनी योजना पूर्ति में चाहे वह जो भी हो, जैसी भी हो।

पहले देख लें भगवान आगे क्या कहने जा रहे हैं। बात पूरी हुए बिना बीच में चल देना ठीक नहीं।

अन्तवत्तु फलं तेषां तद्भवत्यल्पमेधसाम् ।
देवान्देवयजो यान्ति मद्भक्ता यान्ति मामपि ।।२३।।

परन्तु उन अल्पबुद्धि वाले मनुष्य को उन देवताओं की आराधना का फल अन्तवाला (नाशवान) ही होता है। देवताओं को पूजने वाले देवताओं को प्राप्त होते हैं और मेरे भक्त मेरे को ही प्राप्त होते हैं।

भगवान ने ही देवताओं को यह शक्ति प्रदान की है कि वे पूजने वाले को कोई विशेष फल दे सकें। भगवान ने ही यह विधान रचा है कि श्रद्धा युक्त होकर जो व्यक्ति उन्हें पूजे उसे अपने अभीष्ट फल की प्राप्ति हो जाए लेकिन भगवान स्वयं ही पहले उन्हें माययापहृतज्ञानाः यानि माया द्वारा हरण किए गए ज्ञान वाले और अब 'अल्प मेधसाम्' अर्थात् अल्पबुद्धिवाले कह रहे हैं। क्यों?

बात यह है कि हम सभी जानते हैं कि हमें स्थाई सुख और आनन्द तथा अखण्ड शांति चाहिए। अब जो सर्वज्ञ और सर्वशक्तिमान है वही तो ठीक-ठीक समझ सकता है कि इसके लिए क्या करना है और वही सुख शांति आनन्द देने की शक्ति भी रखता है। इसी के अनुसार सृष्टि उसने बनाई है। हमारे चारों ओर जो अच्छा या बुरा संसार रचा है

हमें जिस सुख या दु:ख का अनुभव हो रहा है वह उसका बनाया हुआ है जिसकी बुद्धि का पार नहीं। उसे सब मालूम है कि कल क्या, कैसे होना चाहिए। हमें यह समझना चाहिए कि संसार में जो भी हो रहा है वह ठीक हो रहा है, वैसा ही होगा। इसमें इम्प्रूवमेंट कैसे हो इसके लिए भगवान को हमारी राय की आवश्यकता नहीं। वे तो त्रिकालदर्शी हैं वर्तमान के साथ-साथ भूत भविष्य सब देख सकते हैं। हम तो अपनी खिड़की से बाहर तक का वर्तमान भी नहीं देख सकते, और तो और इतना भी नहीं जानते कि अगले क्षण हमारे मन में क्या विचार उठने वाला है, लेकिन समझते हैं अपने को बड़ा ज्ञानी! भगवान ने यह ठीक नहीं किया। यह तो बहुत ही बुरा किया। फिर सोचते हैं कि हमें संसार को सुधारने के लिए कुछ करना चाहिए। हम भगवान को अल्पबुद्धि समझते हैं भगवान हमको। भले आदमी! संसार को सुधारने का लाइसेंस तुम्हें नहीं मिला हुआ है। तुम्हें जो बुद्धि और कर्म करने की योग्यता मैंने दी है वह इसलिए कि तुम अपना उद्धार कर सको।

अब जरा अपने आप को देखें कैसे हमारी बुद्धि माया द्वारा अपहृत है। जब गोष्ठियों में बड़ी बड़ी बातें बनानी होती है या दूसरे को ज्ञान देना होता है तो मैं कहती हूं- धन में क्या सुख है? पैसे वाले तो और ज्यादा दु:खी हैं। बेटों में क्या सुख पड़ा है? वे तो और रहा सहा धन भी ले जाते हैं और बुढ़ापे में पूछने भी नहीं आते। देखो तो फलां की हालत। दैवयोग से मुझे आर्थिक परेशानी झेल पड़ रही है। किसी ने एक दिन मुझे बताया कि वह अमुक तीर्थस्थान में गया था वहां एक देवी का दरबार लगा करता है। जो जिस कामना से जाता है उसकी कामना पूरी होती है। उसे वहां एक नारियल दिया गया था। तब से उसके पास धन बह रहा है। मैं तुरन्त वहां जाने का निर्णय कर लेती हूं। अपनी सहेली को बताती हूं तो वह पूछती है 'तुम क्या मांगोगी?' मैं कहती हूं 'धन और क्या?' 'लेकिन धन से क्या होगा, जब वे सभी कामना पूरी करते हैं तो शांति ही मांगो।' मैं उत्तर देती हूं 'अरे धन आ जाएगा तो शांति अपने आप आएगी।'

हर लिया न मेरे ज्ञान को धन की माया ने? शांति कैसे आएगी यह भगवान से ज्यादा मुझे मालूम है! अच्छा आगे देखिए क्या होता है

देवी की कृपा से मुझे धन मिल गया, क्योंकि उन्हें यह फल देने की शक्ति मिली हुई है। उनके प्रति मेरी श्रद्धा दृढ़ हो जाती है। मैं अधिक भक्ति भाव से उनकी उपासना करने लगती हूं (पिछले दो श्लोक) अब हुआ यह कि मेरा बेटा बहुत बीमार हो गया। बहुत धन खर्च करने पर भी ठीक नहीं हो रहा। मेरी श्रद्धा तो उस देवी की ओर दृढ़ हो चुकी है। मैं इस बार उनके दरबार में बेटे की रोगमुक्ति की अर्जी लेकर पहुंचती हूं। इस प्रकार हर साल कभी कुछ कभी कुछ कामना हो ही जाती है और तीर्थ जाना आना लगा रहता है। हर कामना पूरी हो रही है पर न सुख मिल रहा है न शांति न आनन्द।

बात किसी देवी देवता के अपमान की नहीं। मैं तो यह कहना चाहती हूं कि सर्वसमर्थ प्रभु के सामने जाकर हम इन छोटी-छोटी चीजों की कामना क्यों करें? राजा हम पर प्रसन्न होकर कहे जो चाहे मांग लो और हम कहें मुझे हलवा खाने की तीव्र इच्छा है आप हलवा दिला दीजिए! भगवान के दरबार में जाकर अपने आप को उसके हवाले कर दें 'प्रभु तुम्हारी जो इच्छा है वही हो।' मुझमें तो इतनी बुद्धि भी नहीं कि अपना भला बुरा सोच सकूं। राजी हैं हम उसी में जिसमें तेरी रजा है', उसकी बुद्धि, उसके न्याय में टांग न अड़ाकर उसके प्रसाद से तृप्त होना सीखें। सारे सुख अपने आप मिल जाएंगे।

तो क्या देवताओं की आराधना करना हीन कर्म है? यह बात नहीं। गलती तो हमारी यह है कि हम उनसे नाशवान पदार्थों की कामना करते हैं। यदि हम नाशवान पदार्थों की कामना न कर निष्काम भाव से उन्हें पूजें तो हमें अविनाशी फल मिलेगा यानि चिर शांति। दूसरी गलती हमारी यह है कि हम उन्हें भगवान से अलग समझते हैं। यदि भगवत् स्वरूप समझकर ही उनकी उपासना करें तो हमें सच्चिदानन्द की प्राप्ति हो जाएगी। इसीलिए भगवान कह रहे हैं कि जो मुझको भजते हैं उन्हें मेरी प्राप्ति होती है। देवताओं के भिन्न-भिन्न रूप तो हमारी रुचि के लिए है हमें जैसा रूप अच्छा लगता है वैसी मूर्ति सामने रहे तो पूजा करना अच्छा लगेगा। लेकिन हैं तो सब एक ही। हम समझ लेते हैं कि विष्णु की पूजा करेंगे तो लक्ष्मी नाराज हो जाएगी या शिव अप्रसन्न हो जाएंगे। वैष्णव शैव से लड़ रहे हैं और शैव शाक्त से। इसी में सब उलझे हुए हैं। मूर्तियों को

पकड़े बैठे हैं, मूर्ति के परे जो सत्ता है उसे जानने का प्रयत्न नहीं करते। भगवान अगले श्लोक में फिर हमें अबुद्धि कहकर डांट पिला रहे हैं-

अव्यक्तं व्यक्तिमापन्नं मन्यन्ते मामबुद्धयः ।
परं भावमजानन्तो ममाव्ययमनुत्तमम ।।२४।।

बुद्धिहीन मनुष्य मेरे सर्वश्रेष्ठ अविनाशी परम भाव को न जानते हुए मुझ अव्यक्त (परमात्मा) को शरीर धारण किया हुआ मानते हैं।

ऐसा न समझ लें कि गीता भगवान श्रीकृष्ण ने कही है इसलिए वे कह रहे हैं मुझी को पूजो। वे अन्य देवताओं को पूजने वाले को मूर्ख बता रहे हैं। यहां तो वे उन्हें भी मूर्ख बता रहे हैं जो उन्हें देवकी के पुत्र के रूप में जन्म लेने वाला, नन्द के घर पलने वाला, अर्जुन का रथ हांकने वाने वाला कृष्ण समझकर पूजते हैं। इससे यह यह समझ लेना चाहिए कि गीता में अन्य देवताओं की कोई आलोचना नहीं की गई है। हम राम को भजें या श्याम को। मुख्य बात तो उनके रूप आकार से परे उनके अविनाशी अव्यय परम तत्व को जानने की है। उस तत्व को जानने के बाद राम, श्याम, विष्णु, शिव, गणेश, इन्द्र, नरसिंह, वामन किसी में भी भेद ही कहां रह जाएगा। मूर्ति की पूजा करें लेकिन उसी में उलझे न रहें। किसी भी एक रूप को इष्ट मानें लेकिन उसके तात्विक स्वरूप को दूसरों से भिन्न न समझें। ऐसा न समझें कि गीता देवकी पुत्र कृष्ण के वचन हैं। ये तो उस परमात्मा के वचन हैं जो अव्यक्त भी है और व्यक्त भी। हम तो उन्हें बस एक विलक्षण पुरुष मान लेते हैं। उनकी लीलाओं की आलोचना करने वालों की ही कमी नहीं है। उनकी रासलीला या चीर हरण के दिव्य भाव को समझने की ही कोशिश नहीं करते उनके परमात्मस्वरूप को क्या पहचानेंगे।

सांराश रूप में बुद्धिमान वे हैं जो सर्वव्यापी, सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान परमात्मा को सभी नर-नारियों और देवी देवताओं में एकीभाव से प्रतिष्ठित जान उन्हें भजते हैं। उन्हें सच्चिदानन्द की प्राप्ति होती है। अल्पमेधसाम् वे हैं जो देवताओं को परमात्मा से भिन्न मानकर विशेष-विशेष कामनाओं

की पूर्ति के लिए उन्हें भजते हैं। उन्हें नाशवान फलों की प्राप्ति होती है और वे कामनाओं की उत्पति और पूर्ति के जाल में उलझे रहते हैं। अबुद्धि वे हैं जो परमात्मा को तत्व रूप से न जानते हुए मनुष्य के जैसा मान लेते हैं। वे अपने आप को ही बड़ा मानते हैं और वाक्जाल में उलझे रहते हैं। ऐसे व्यक्तियों की भगवान और भी प्रतारणा कर रहे हैं:-

नाहं प्रकाशः सर्वस्य योगमायासमावृतः ।
मूढोऽयं नाभिजानाति लोको मामजमव्ययम् ।।२५।।

मूढ़ लोग मेरे अज और अविनाशी स्वरूप को नहीं जानते। योग माया से आवृत हुआ (होने के कारण) मैं सबके लिए प्रकट नहीं होता।

भक्ति की भाषा में जिसे माया कहते हैं वेदान्त की भाषा में उसे ही वासना कहते हैं। जो जैसा नहीं है वैसा नजर आए तो माया कहा जाता है। हमें अपने पूर्व सस्कारों या तीव्र कामना अथवा प्रकृतिगत स्वभाव के कारण बहुधा जो चीज वास्तव में जैसी है वैसी नहीं लगती। दुष्ट व्यक्ति भी भला लगने लगता है यदि उसने हमें हमारी मनचाही वस्तु दे दी है। अच्छा भला आदमी यदि हमारे मन के प्रतिकूल बात कह दे तो अपना दुश्मन लगने लगता है।

वसुदेव-देवकी, यशोदा मैया और दुर्योधन को तो भगवान ने अपना स्वरूप दिखा ही दिया था। जेल में वे चतुर्भुज रूप में प्रकट हुए थे। यशोदा मैया को मुख में ब्रह्माण्ड दिखाया था। दुर्योधन ने उन्हें बांधना चाहा था तब उसे विराट् रूप दिखाया था लेकिन देवकी वसुदेव और मैया को अत्यधिक वात्सल्य के कारण और दुर्योधन को अत्यधिक द्वेष के कारण देख लेने पर भी कभी याद नहीं रहता था कि उनके सामने पीताम्बर धारी कृष्ण नहीं खड़ा, वह तो अजन्मा अविनाशी परमात्मा है। उनकी आंखों पर योगमाया का आवरण पड़ा हुआ था।

इसी प्रकार हम भी अपने विचारों और संस्कारों से मोहित रहने के कारण जानते हुए भी नहीं जानते कि परमात्मा सभी में समान रूप से व्याप्त है, आत्मा का कभी जन्म नहीं होता, न ही नाश होता है। जब

हमें संत महात्मा जिन्होंने इसका प्रत्यक्ष अनुभव किया है ऐसी बातें कहते हैं तो हम मान तो लेते हैं लेकिन उसके अनुरूप व्यवहार कर नहीं पाते। हमारे राग द्वेष हमारा व्यवहार किसी के प्रति अत्यन्त कोमल और किसी के प्रति अत्यन्त कठोर बना देते हैं।

अपने स्वरूप के संबंध में और विवरण देते हुए भगवान कहते हैं–

वेदाहं समतीतानि वर्तमानानि चार्जुन ।
भविष्यवाणि च भूतानि मां तु वेद न कश्चन ।।२६।।

हे अर्जुन! जो प्राणी भूतकाल में हो चुके हैं, जो वर्तमान में हैं और जो भविष्य में होंगे, उन सबको मैं तो जानता हूं परंतु मेरे को कोई नहीं जानता।

देवकी पुत्र कृष्ण तो एक काल विशेष में अवतरित हुए, कुछ समय तक पृथ्वी पर रहकर दुष्टों के विनाश और धर्म की संस्थापना के बाद उन्होंने लीला संवरण कर लिया लेकिन यहां 'माम्' यानि मुझ शब्द का अभिप्राय तो वह नर तन धारी कृष्ण नहीं बल्कि परमात्मा रूप कृष्ण हैं।

आत्मा एक ही है। वह अज अर्थात् अजन्मा और अविनाशी है। एक ही आत्मा सभी में समान रूप से व्याप्त है। वह अजन्मा अविनाशी होने के कारण काल से परे है। हम अपनी बुद्धि द्वारा क्या जानते हैं क्या नहीं जानते इसे प्रकाशित करने वाली आत्मा ही है। हमारे शरीर–मन–बुद्धि बदल जाते हैं पर आत्मा तो बदलती नहीं अतः इनके सभी परिवर्तनों का ज्ञाता आत्मा ही है। इसी प्रकार भगवान कह रहे हैं कि मैं भूत, वर्तमान और भविष्य के सभी प्राणियों को जानता हूं। जैसे बचपन में मेरा शरीर छोटा सा था, मेरा मन बहुत चंचल था, मेरी बुद्धि अत्यंत अल्प थी और मैं हर वक्त शरारत में लगी रहती थी। दिन बीतते गए। शरीर बड़ा और पुष्ट हो गया, मन में गंभीरता आ गई, बुद्धि तीक्ष्ण हो गई। हर वक्त शरारत करने वाली वही लड़की समझदारी की बातें करने लगी। मेरी मौसी ने

बहुत वर्ष पहले मुझे देखा था। अब जो मिली तो पहचान ही नहीं पाई। 'अरे! तू इतनी बदल गई मुझे पता ही न था मैं तो उसी नटखट भांजी को जानती हूं जो हर वक्त मेरी चोटी खोलने के पीछे पड़ी रहती थी।'

मौसी ने मुझे बचपन में देखा था, बाद में नहीं देखा था अतः उनका ज्ञान सीमित है लेकिन मैंने अपने आप को बचपन में भी देखा था, किशोरावस्था में भी देखा और युवावस्था में भी देखा अतः मैं इन तीनों अवस्थाओं को अच्छी तरह जानती हूं। मेरे शरीर, मन, बुद्धि में परिवर्तन हुआ, मैं वही हूं। इसी प्रकार आत्मा साक्षी रूप में सभी प्राणियों में अतीत में भी थी, वर्तमान में भी है और भविष्य में भी रहेगी। प्राणियों के शरीर में परिवर्तन होता रहेगा आत्मा अविकारी अव्यय रूप से सबकी साक्षी चैतन्य बनी रहेगी। इसीलिए आत्मस्वरूप हमारे भगवान कहते हैं कि मैं सबको जानता हूं मुझे कोई नहीं जानता। कोई उन्हें क्यों नहीं जानता? उन्हें जानने के लिए करना क्या चाहिए?

यह भगवान अगले तीन श्लोकों में बता रहे हैं-

इच्छाद्वेषसमुत्थेन द्वन्द्वमोहेन भारत ।
सर्वभूतानि संमोहं सर्गे यान्ति परंतप ।।२७।।

हे परंतप! इच्छा (राग) और द्वेष से उत्पन्न होने वाले द्वन्द्व-मोह से मोहित होकर सभी प्राणी संसार में जन्म (मरण) को प्राप्त हो रहे हैं।

मनुष्य की दो वृत्तियां हैं- निवृत्ति और प्रवृत्ति। एक तरफ से हटाना और दूसरी तरफ लगाना। संसार से मन को हटाना है और परमात्मा में लगाना है। लेकिन हम दोनों वृत्तियों को संसार में ही लगा देते हैं। संसार की ही किसी वस्तु से ध्यान हटाते हैं, दूसरी वस्तु में लगाते हैं। कभी दूसरी से हटाकर तीसरी में लगाते हैं। इस प्रकार प्रेम और वैराग्य का द्वन्द्व राग-द्वेष का रूप ले लेता है और संसार में उलझा ही रहता है। परमात्मा की ओर चलने का अवसर ही नहीं आता। कभी-कभी सत्संग आदि में अच्छी-अच्छी बातें सुनते हैं, कभी पढ़ते हैं, कभी विचार करते

हैं, उन्हें ठीक भी समझते हैं, फिर भी राग-द्वेषों के कारण मन उलझा रहता है कि मुझे अमुक अनुकूलता को प्राप्त करना है, अमुक प्रतिकूलता को हटाना है। मेरा पहला काम तो यही है, इसके बिना जीवन निर्वाह नहीं होगा। इस प्रकार वह दृढ़ता से अपने राग-द्वेषों को पकड़े रहता है। उसका ध्यान परमात्मा की ओर जा ही नहीं पाता।

तो क्या हमें संसार के कर्त्तव्यों से मुख मोड़कर केवल परमात्मा के चिंतन में मगन हो जाना चाहिए? क्या इस संसार को त्याग दें? ऐसी बात नहीं। संसार की वस्तुओं और व्यक्तियों के प्रति महत्वबुद्धि को त्याग देना ही वास्तविक त्याग है। यह संसार द्वन्द्वात्मक है, इसमें अनुकूलता-प्रतिकूलता आती ही रहेगी, यह मान लेना, इसे सहज रूप से स्वीकार कर लेना ही इसके मोह से परे जाना है। हम सोचते रहते हैं, 'ऐसा क्यों हुआ, वैसा क्यों हुआ।' यदि हमारे जीवन से 'क्यों-क्यों' निकल जाए और मान लें कि यह ऐसा होगा ही, वह वैसा होगा ही तो फिर हमारा मन विचलित नहीं होगा, द्वन्द्वों से मोहित नहीं होगा। हम शांत भाव से अपने आत्मस्वरूप का चिंतन कर पाएंगे।

येषां त्वन्तगतं पापं जनानां पुण्यकर्मणाम् ।
ते द्वन्द्वमोहनिर्मुक्ता भजन्ते मां दृढव्रताः ।।२८।।

परन्तु जिन पुण्यकर्म मनुष्यों के पाप नष्ट हो गए हैं वे द्वन्द्व-मोह रहित मनुष्य हठव्रती होकर मेरा भजन करते हैं।

'पुण्यकर्मा मनुष्यों के पाप नष्ट हो गए' इस वाक्य को अच्छी तरह समझना आवश्यक है। जीव का सत्य स्वरूप तो आत्मा ही है लेकिन राग और द्वेष के कारण जब हम गलत निर्णय ले बैठते हैं, मन और बुद्धि के द्वारा नचाए जाने पर जब हम विषय वासना के वशीभूत हो जाते हैं तभी हमारे कर्म गलत होते हैं। यही पाप है जो आत्मा के प्रकाश को धुंधला कर देता है। इन्द्रियों की मांग जब व्यक्ति को अपने अनुसार नचाने लगती है तब उसे पापी कहते हैं। पाप हमारा स्वरूप नहीं है यह तो हमारे कर्मों से उत्पन्न फल है।

मनुष्य योनि की प्राप्ति तब होती है जब पाप और पुण्य दोनों लगभग साम्यावस्था में रहते हैं। किसी में किंचित पाप अधिक होता है, किसी में किंचित पुण्य अधिक होता है। अब यदि हम और पाप ही करते जाएंगे तो पाप बलवान हो जाएगा और पुण्य कर्म करेंगे तब पुण्य बलवान हो जाएगा और पाप अपने आप ही कमजोर यानी क्षीण पड़ जाएगा। सत्कर्मों, सद्विचारों द्वारा जिसने इन्द्रिय भूख पर विजय पा ली वह द्वन्द्वों के मोह से मुक्त हो जाएगा। तब उसके मन में विक्षेप नहीं होगा यानी वह इधर-उधर भागेगा नहीं। ऐसा व्यक्ति ही एकाग्र अर्थात् दृढ़वती होकर भजन अर्थात् सत्य की खोजकर सकता है।

अब अगले श्लोक में भगवान बाताते हैं कि द्वन्द्व-मोह से मुक्त होने के बाद सत्य की खोज किसलिए करें? किस प्रकार करें? उसे करने से क्या फल मिलेगा?

जरामरणमोक्षाय मामाश्रित्य यतन्ति ये ।
ते ब्रह्म तद्विदुः कृत्स्नमध्यात्मं कर्म चाखिलम् ।।२९।।

जरा और मरण से मोक्ष पाने के लिए जो मेरा आश्रय लेकर यत्न करते हैं, वे उसे ब्रह्म को, सम्पूर्ण आध्यात्म को और सम्पूर्ण कर्मों को भी जान लेते हैं।

भजन क्यों करें? भगवान कहते हैं- जरा मरण मोक्षाय, अर्थात् जरा और मरण से मुक्त होने के लिए। अब प्रश्न यह है कि वृद्धावस्था और मृत्यु तो शरीर का सहज धर्म है। शरीर है तो वृद्धावस्था आएगी ही और शरीर का अन्त भी होगा ही। कितना भी बड़ा ज्ञानी या भक्त क्यों न हो, जरा मरण से मुक्त तो हमने आज तक किसी को नहीं पाया। फिर गीता में ऐसी बात क्यों कही गई है?

गीता आध्यात्म विद्या है। यह शरीर विज्ञान नहीं। अतः जरा मरण का अर्थ भी शरीर का बुढ़ापा और मृत्यु नहीं समझना चाहिए। जरा का अर्थ है अनुत्साह। जरा का अर्थ यह मानना है कि अब क्या किया जा सकता है? ऐसा जो मान ले वह सचमुच कुछ नहीं कर सकता। उम्र

से वृद्ध होने के बाद भी उत्साह है तो सब कुछ है सब कुछ पाया जा सकता है।

इस प्रकार मृत्यु का अर्थ है परिवर्तन। शरीर जब रूप धारण करने के लिए एक रूप छोड़ता है तब उसे मृत्यु कहते हैं। इसी प्रकार मन भी एक विचार छोड़ता है दूसरे को धारण करता है। दूसरे को छोड़ता है तीसरे को धारण करता है। यही जन्म मृत्यु का चक्कर है जिसमें वह उलझा रहता है कभी हंसता है कभी रोता है। जरा मरण से मुक्ति का अर्थ है परिवर्तनशीलता और आशा निराशा के झूले से उतरना। ये ही हमारे बंधन के कारण हैं। इनसे मुक्ति पाना ही वास्तविक स्वच्छन्दता है।

अब बताते हैं, कैसे करें- मामाश्रित्य अर्थात् मेरा आश्रय लेकर। आप प्रयत्न कीजिए। आश्रय लीजिए मेरा, प्रयत्न कीजिए आप। जैसा राजा की सेना में भर्ती होकर दुश्मन से लड़ रहे हैं तो पुरुषार्थ आपका है लेकिन आश्रय राजा का है। उस स्थिति में आप अकेले नहीं होंगे। आपके बड़े-बड़े मददगार होंगे। स्वयं राजा आपका मददगार होगा। लेकिन राजा के आश्रय के बिना अकेले बन्दूक लेकर निकल पड़े तो कमजोर पड़ जाएंगे।

राग द्वेष भी महाबली दुश्मन है। इनसे अपने बल पर अकेले लड़ना संभव नहीं क्योंकि हम तो पहले से ही इनके अधीन हैं, उन्होंने हमें दबा रखा है। अतः आश्रय लीजिए भगवान का और प्रयत्न कीजिए स्वयं।

भगवान ने इस सातवें अध्याय में परमेश्वर को जानने को एक महान साधन बताने के लिए भक्ति का भव्य भवन खोल दिया है। विनोबा भावे कहते थे कि चित्त शुद्धि के लिए यज्ञ, दान, तप, ध्यान, धारणा आदि अनेक साधन बताए गए हैं। उन साधनों की उपमा सोडा, साबुन, रीठा आदि से की जा सकती है। लेकिन भक्ति पानी है। सोडा, साबुन, रीठा सफाई लाते हैं, लेकिन पानी के बिना काम नहीं चलता केवल पानी भी निर्मलता ला सकता है कि लेकिन साबुन आदि हो तो फल अच्छा होता है। परन्तु जप तप आदि हो पर भाव न हो, शरणागति न हो, भक्ति न हो तो चित्त शुद्धि नहीं हो सकती। इस प्रकार आश्रय लेकर प्रयत्न करने से जरा मरण से मुक्ति हो जाएगी। ब्रह्म का ज्ञान हो जाएगा पर इसका व्यावहारिक लाभ क्या है यह भी भगवान बता रहे हैं। ब्रह्म के ज्ञाता को

आध्यात्म का भी ज्ञान हो जाता है और कर्म में भी कुशलता आ जाती है। इससे स्पष्ट हो जाता है कि गीता में वर्णित ब्रह्मवेता कर्मों को त्याग कर दाढ़ी मूंछ बढ़ा लेने वाला साधु मात्र नहीं है बल्कि अपने अन्दर और बाहर की हर क्रियाओं का ज्ञाता है।

यह तो स्वाभाविक बात ही है कि जिसे व्यवहारिक ज्ञान पूरा होगा वही ठीक से व्यवहार कर पाएगा। हम संसार में आए हैं किसलिए? हम कौन हैं? हम क्या कर सकते हैं? कैसे कर सकते हैं? किस प्रकार के कर्म फल क्या होगा? यह सभी कुछ जिसे अच्छी तरह मालूम है वही ज्ञानी है, वही गुणी है, वही सफल उद्यमी है, वही सम्पूर्ण पुरुष है।

इसी विचार को और आगे बढ़ाते हुए भगवान ब्रह्मवेत्ता के ज्ञान की सम्पूर्णता के विषय में और भी बता रहे हैं-

साधिभूताधिदैवं मां साधियज्ञं च ये विदुः ।
प्रयाणकालेऽपि च मां ते विदुर्युक्तचेतसः।।३०।।

जो मनुष्य अधिभूत, अधिदैव और अधियज्ञ सहित मुझे जानते हैं वे युक्तचेता मनुष्य अन्तकाल में भी मुझे ही जानते हैं अर्थात् प्राप्त होते हैं।

प्रस्तुत श्लोक से भगवान ने अगले अध्याय का द्वार खोल दिया है। गीता के प्रायः प्रत्येक अध्याय में हम पाते हैं कि भगवान ने जिस विषय वस्तु को चुनकर बात आरम्भ की थी वह पूरी हो जाती है तो उसके अंत में कुछ नई बातें ऐसे ढंग से कह देते हैं कि अर्जुन समझ न पाए और उसकी उत्सुकता जाग उठे। तब वह प्रश्न करता है। उसके प्रश्नों से नवीन अध्याय का आरम्भ होता हैं।

सातवें अध्याय के प्रारम्भ में ही भगवान ने कहा था कि मैं तुम्हें ज्ञान-विज्ञान सहित वह तत्व बताऊंगा जिसे जानने के बाद कुछ भी जानना शेष नहीं रह जाएगा। इसके बाद उन्होंने अपने तात्विक स्वरूप का ज्ञान दिया कि संसार के हर प्राणी, हर वस्तु का उपादान कारण अर्थात् पदार्थ

भी वही हैं, बनाने वाले स्रष्टा भी वही हैं, उन्हें सूत्र रूप में पिरोने अर्थात् अनुशासित रखने वाले नियन्ता भी वही हैं और संहारकर्ता भी। उनकी यह माया अत्यन्त दुस्तर है और इससे वही व्यक्ति तर कर सकता है जो संसार की कामनाओं में न उलझकर उन्हीं को अपना एकमात्र लक्ष्य माने तथा श्रद्धापूर्वक उन्हें पाने (जानने) का प्रयत्न करे। संसार से रागद्वेष आदि जैसे जैसे छूटते हैं वैसे वैसे इस परम लक्ष्य के प्रति निश्चय दृढ़ होता जाता है और ऐसे दृढ़ निश्चयी भक्त की हर क्रिया भगवान का भजन बन जाती है।

अंतिम श्लोक में इस तत्व ज्ञान के लिए उन्होंने नवीन शब्दों का प्रयोग किया है- अध्यात्म, अधिभूत, अधिदैव और अधियज्ञ सहित जानना। इन शब्दों की विस्तृत व्याख्या अगले अध्याय में अर्जुन के जिज्ञासा प्रकट करने पर होगी।

एक नई बात और भी उन्होंने अंत में कही है कि जो मुझे इन सबके सहित अंतकाल में भी जानते हैं वे युक्तचित वाले मुझे जानते अर्थात् प्राप्त होते हैं।

इस प्रकार अपने तत्व के सैद्धांतिक ज्ञान और उसे पाने की व्यवहारिक विधि अर्थात् विज्ञान बताने का अपना वादा श्रीकृष्ण ने पूरा किया जिसके द्वारा मनुष्य तन धारी जीव जीवन पर्यन्त प्रयत्न कर सकता है। अंतकाल में जब शरीर छूटेगा तो इस प्रकार प्रयत्न करने वाला व्यक्ति कैसे परमात्मा को प्राप्त हो जाएगा यह जानना भी आवश्यक है। किन्तु ज्ञान देने की सार्थकता तब है जब शिष्य के मन में उस ज्ञान के लिए उत्सुकता जागे। अंतकाल की गति, प्रयाण साधना के प्रति उत्सुकता जगाने के लिए भगवान ने इस बात को छोड़ दिया है।

इस प्रकार श्रीकृष्ण अर्जुन संवाद में ज्ञान विज्ञान योग नामक सातवां अध्याय पूर्ण हुआ।

ॐ तत् सत्